फिर मिलेंगे

लेखक—

श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

मूल्य—आठ आना

प्रकाशक—क्षितीन्द्रमोहन मित्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद।

मुद्रक—धीरेन्द्रनाथ,
माया प्रेस,
इलाहाबाद।

चूड़ियाँ

"बहूजी ! चूड़ी पहिनोगी, बहूजी ?"

उत्तर नहीं मिला।

"बहूजी ! ओ बहूजी !"

"कौन है ?"

"चुड़िहारिन !"

"अच्छा !"

दरवाज़ा खुला।

"चूड़ी पहिनोगी, बहूजी ?"

"हाँ, हाँ, आओ, चुड़िहारिन," वृद्धा ने उत्तर दिया—"तुम्हारा तो इन्तज़ार ही हो रहा था। न आतीं, तो नौकर भेज कर बुलवाती।"

"आती कैसे न बहूजी ?" घर में प्रवेश करते हुये चुड़िहारिन ने कहा—"साल भर का त्योहार ठहरा। महीनों से आसरा लगा था। यों तो ठंडा ही रहता है, लेकिन त्योहार पर चार पैसे ज़रूर मिल जाते हैं।"

"यह तो हई है। वैसे तो बहुत ज़रूरत पड़ने पर नई चूड़ियाँ पहिनी जाती हैं, लेकिन त्योहार पर तो सब को नई चूड़ियाँ पहिननी ही पड़ती हैं।"

"हाँ, बहूजी, और क्या !"

आँगन में पहुँच कर चुड़िहारिन ने कमर से टोकरी उतार कर फर्श पर रख दी, और टोकरी की बग़ल में बैठ कर सुस्ताने लगी।

"बड़ी गर्मी है, बहूजी !"

"हाँ, बड़ी गर्मी है। सावन का महीना ठहरा, और इधर कई दिन से पानी नहीं बरसा।"

"जल्दी करो, बहूजी। अभी बहुत जगह जाना है। कल ही गुड़िया है। जहाँ न पहुँचूँगी, वहीं उलाहना मिलेगा।"

"बड़ी बहू !" वृद्धा ने आवाज़ लगाई।

"क्या है, अम्माँजी ?" ऊपर से आवाज़ आई।

"आओ, देखो, चुड़िहारिन आई है। मँझली बहू कहाँ है?"

"यहीं कहीं है।"

"यहीं हूँ, अम्मीजाँ," अंदर के एक कमरे से निकल कर मँझली बहू ने कहा।

"चूड़ियाँ नहीं पहिनोगी क्या?"

"पहिनूँगी क्यों नहीं?"

"तो आओ न। खड़ी कहाँ क्या देख रही हो?"

"औरों को आ जाने दीजिये।"

"आई जाती हैं वह भी। तब तक तुम आ कर पसन्द करो। चुड़िहारिन को देर हो रही है।"

तब मँझली बहू धीरे-धीरे दालान से उतर कर आँगन में पहुँचीं। चुड़िहारिन ने तुरन्त टोकरी से कपड़ा हटाया, और चूड़ियाँ दिखाने लगी। तरह-तरह के रंगों की, भाँति भाँति के डिज़ाइनों की चूड़ियाँ टोकरी में भरी पड़ी थीं।

"देखो, बहूजी, यह बिलकुल नये फ़ैशन की चूड़ी है। अभी फ़िरोज़ाबाद से आई है। साहिबों के घर में बहुत पसन्द की गई।"

"कितने की है?"

"दो आने की।"

"दो आने की एक?"

"हाँ, बहूजी। तुम्हारे यहाँ मैं दाम बढ़ा कर नहीं बताऊँगी। बिलकुल ठीक बताती हूँ।"

"क्या अन्धेर करती हो, चुड़िहारिन!" बूढ़ी सास ने कहा—"दो आने की एक! कौन-सी अनोखी बात है इसमें?"

"अनोखी बात बनावट में होती है, बहूजी। वैसे तो सभी चूड़ियाँ काँच की ही होती हैं। देखो, इसकी बनावट, इसकी नक्काशी, इसका रंग। जिस हाथ में पड़े वह चमक उठे।"

"यह सब तो ठीक है," मँझली बहू ने कहा—"लेकिन दाम भी हर चीज़ का वाजिब होना चाहिये।"

अपने नवजात शिशु को गोद में लिये हुए बड़ी बहू भी आ पहुँचीं। चूड़ियाँ देखी जाती रहीं, मोल भाव होता रहा।

बाहर से दौड़ती हुई लज्जा भी आ पहुँची। उसकी बाछें खिल गईं।

"दादी, दादी! मैं भी चूड़ी पहिनूँगी।"

"हाँ, हाँ, पहिन, ज़रूर पहिन। न पहिनेगी, तो पुरखिन कैसे बनेगी?"

"मैं यह लाल चूड़ी पहिनूँगी। ओ हो-हो! कैसी अच्छी चूड़ी है!" लपक कर एक बड़ी-सी लाल चूड़ी लज्जा ने अपने हाथ में डाल ली।

"रहने दो, बिटिया," चुड़िहारिन ने कहा—"यह बहुत बड़ी है। टूट जायगी।"

लज्जा हँस कर आँगन में नाच उठी।

"वाह री, लड़की!" बड़ी बहू बोलीं—"देखो, तो इसका दीदा! रख इधर।"

"रख दो उसे, बिटिया," वृद्धा ने कहा—"तुम्हारे लायक यह चूड़ी नहीं है। देखो, यह है तुम्हारे लायक।"

"कौन-सी? कौन-सी?"

ऊपर के एक कमरे की खिड़की से एक नवयुवती आँगन का यह दृश्य देख रही थी। उसके केश रूखे थे, उसकी माँग सूनी थी, उसके हाथों में चूड़ियाँ नहीं थीं। उसके हाथ सूने थे, पैर सूने थे, गला सूना था, कानों में ईयर-रिंग भी नहीं थे, नाक में कील भी नहीं थी। केवल एक साफ़ साड़ी और एक साफ़ जम्पर उसके शरीर पर था। किन्तु उसके लम्बे, दुबले, सुडौल शरीर से यौवन फूटा पड़ रहा था, सौंदर्य बिखरा जा रहा था। उसके शुष्क वेष में उस पर परदा डालने का सामर्थ्य नहीं थी! सौंदर्य प्रकृति की देन है, वेष मानव का आविष्कार। तब मानव के विद्रोह के सम्मुख प्रकृति कैसे झुके? उसका मन मर्म-वेदना के भार से भारी हो उठा। एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, उस खिड़की से हट कर, दूसरी ओर की खिड़की के सामने फ़र्श पर पड़ी हुई चटाई पर जा कर वह अस्त-व्यस्त बैठ गई। एक वह दिन भी था जब हम घर की अन्य बहुओं की तरह ऐसे अवसरों पर चूड़ियाँ पहिनने के लिये वह भी बुलाई जाती थी। लेकिन आज? ओह! आज कैसा विकट, कैसा भयानक, कैसा दुखदायक अन्तर उसकी स्थिति में आ गया है। ये चूड़ियाँ! काँच की इन चूड़ियों की क्या क़ीमत है, क्या बिसात है? लेकिन इन मामूली-सी चूड़ियों को पहिनने के लिये भी स्त्री के पास एक विशेष

प्रकार का अधिकार होना चाहिये। कहाँ है आज उसके पास वह अधिकार? हाय रे अभागा भाग्य!

आकाश में बादल उमड़ने लगे थे। हवा बन्द थी। प्रकृति मौन थी, मानो अन्दर उठते हुए तूफान को दाबने का प्रयत्न कर रही हो! जल के लिये तड़पती हुई कुम्हलाई हरियाली दूर तक फैली हुई थी। ऊपर दौड़ती हुई बादलों की छाया की ओर वह देख रही थी! लेकिन वह देख रही थी कुछ नहीं।

कैसा सुन्दर था वह समय जब उसे भी यह अधिकार प्राप्त हुआ था! एम० ए० पास कर चुकने के बाद वे एल-एल० बी० फ़ाइनल में पढ़ रहे थे। एक दिन अपने एक मित्र के साथ, जो उसके पिता के भी मित्र थे, वे उसके घर आये थे। पिता ने अन्दर आ कर उसे पान लाने की आज्ञा दी थी। तब पिता के आदेशानुसार एक तश्तरी में पान ले कर वह बैठक में गई थी। प्रताप ने उसे आँख भर कर देखा था। उसने भी उन्हें देखा था एक बार। कितने अच्छे लगे थे वे! तश्तरी मेज़ पर रख कर वह बैठक से लौट आई थी, लेकिन लौटने को जी नहीं चाहता था। उस दिन उसके मन में एक साध बस गई थी, और आगे चल कर वह साध पूरी हुई थी। एक पखवारे के बाद उसके पिता प्रताप के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव ले कर गये थे, और प्रताप के पिता ने शिष्टता-पूर्वक इनकार कर दिया था। कितने उदास हो कर उसके पिता घर लौटे थे! हैसियत में प्रताप के पिता से वे बेशक कम थे, लेकिन उन्हें अपनी कुलीनता पर, अपनी भद्रता पर, अपनी पुत्री पर गर्व था। उनके इस गर्व को प्रताप के पिता की अस्वीकृति से गहरी चोट पहुँची थी। यह सब सुन कर प्रताप ने विद्रोह का झंडा उठाया था। एक दिन उन्होंने अपने पिता से साफ़-साफ़ कह दिया था कि वे या तो बाबू कमलकिशोर की पुत्री आशालता के साथ विवाह करेंगे या जीवन भर कौमार्य-व्रत धारण किये रहेंगे। गुमराह पुत्र को ठीक रास्ते पर लाने की पिता ने हर तरह कोशिश की थी, लेकिन उनका निश्चय अटल साबित हुआ था। तब मजबूर हो कर बाबू गुरुदयाल को पुत्र के दुराग्रह के सामने झुकना पड़ा था। उसी वर्ष शुभ लग्न में उसके मनमोहन से उसका शुभ विवाह सम्पन्न हुआ था। एक वर्ष इस दम्पति के सुख में घर-भर का चित्त प्रफुल्लित हुआ था। दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी। मायके से विदा हो कर वह ससुराल आई थी। और प्रथम मिलन की उस हँसीली रात को उन

दोनों का पारस्परिक सुख अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। पथिक मंज़िल पर पहुँच कर आनन्द से विभोर हो गये थे। उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में भी वे उत्तीर्ण हो गये थे।

वे उसे कितना प्यार करते थे! वह अपने को धन्य मानती थी, और कामना करती थी कि प्रत्येक स्त्री को प्रताप-जैसा ही पति मिले। लेकिन अक्सर एकान्त में उसके मन में यह विचार उठता कि उसकी रस-भरी गागर कहीं छलक न जाय, गिर कर टूट न जाय। तब किसी अज्ञात आशंका के आतंक से उसका मन भर आता।

नाग-पंचमी का ही वह भी दिन था। साधारण नियम के विपरीत कारणवश उसे ससुराल में ही रुकी रहना पड़ा था। वह सारे दिन हवा में उड़ती रही थी। उसका हृदय उल्लास से उछला पड़ रहा था। अन्तर्देश में किसी चिन्ता की, किसी अशान्ति की छाया नहीं थी। आमोद किलकारियाँ मार रहा था, जीवन रस घोल रहा था—रंगीन, मदमाती तितली की तरह उड़ रहा था पल-पल। दिन बीता। रात आई। ग्यारह बजे। उसने शयनागार में प्रवेश किया। प्रताप ने उसे सबल भुजाओं में भर लिया। फिर उन्होंने उसका नख से शिख तक अपने हाथों से शृंगार किया और चूड़ियाँ पहिनाईं, जो ख़ुद बाज़ार से ख़रीद कर लाये थे।

"इस समय परी लग रही हो तुम!"
"रहने भी दो!"
"सच कहता हूँ, आशा।"
"परियाँ इन्द्रपुरी में रहती हैं। यह तो मानव-लोक है।"
वे हँस पड़े।
"उतना खिलाओ, जितना हज़म हो सके!"
"बदहज़मी से डरती हो?"
"हाँ, डरती हूँ।"
और—
आँसू झर-झर गिरने लगे उसकी आँखों से।

× × ×

दरवाज़ा खड़खड़ा उठा।
"छोटी चाची!"

प्रकार का अधिकार होना चाहिये। कहाँ है आज उसके पास वह अधिकार ? हाय रे अभागा भाग्य !

आकाश में बादल उमड़ने लगे थे। हवा बन्द थी। प्रकृति मौन थी, मानो अन्दर उठते हुए तूफ़ान को दाबने का प्रयत्न कर रही हो। जल के लिये तड़पती हुई कुम्हलाई हरियाली दूर तक फैली हुई थी। उधर दौड़ती हुई बादलों की छाया की ओर वह देख रहा था ! लेकिन वह देख रही थी कुछ नहीं।

कैसा सुन्दर था वह समय जब उसे भी वह अधिकार प्राप्त हुआ था ! एम० ए० पास कर चुकने के बाद वे एल एल० बी० फ़ाइनल में पढ़ रहे थे। एक दिन अपने एक मित्र के साथ, जो उसके पिता के भी मित्र थे, वे उसके घर गये थे। पिता ने अन्दर आ कर उसे पान लाने की आज्ञा दी थी। तब पिता के आदेशानुसार एक तश्तरी में पान ले कर वह बैठक में गई थी। प्रताप ने उसे आँख भर कर देखा था। उसने भी उन्हें देखा था एक बार। कितने अच्छे लगे थे वे ! तश्तरी मेज़ पर रख कर वह बैठक से लौट आई थी, लेकिन लौटने को जी नहीं चाहता था। उस दिन उसके मन में एक साध बस गई थी, और आगे चल कर वह साध पूरी हुई थी। एक पखवारे के बाद उसके पिता प्रताप के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव ले कर गये थे, और प्रताप के पिता ने शिष्टता पूर्वक इनकार कर दिया था। कितने उदास हो कर उसके पिता घर लौटे थे ! हैसियत में प्रताप के पिता से वे बेशक कम थे, लेकिन उन्हें अपनी कुलीनता पर, अपनी भद्रता पर, अपनी पुत्री पर गर्व था। उनके उस गर्व को प्रताप के पिता की अस्वीकृति से गहरी चोट पहुँची थी। यह सब सुन कर प्रताप ने विद्रोह का झंडा उठाया था। एक दिन उन्होंने अपने पिता से साफ़ साफ़ कह दिया था कि वे या तो बाबू कमलकिशोर की पुत्री आशालता के साथ विवाह करेंगे या जीवन भर कौमार्य-व्रत धारण किये रहेंगे। गुमराह पुत्र को ठीक रास्ते पर लाने की पिता ने हर तरह कोशिश की थी, लेकिन उनका निश्चय अटल साबित हुआ था। तब मजबूर हो कर बाबू गुरुसहाय को पुत्र के दुराग्रह के सामने झुकना पड़ा था। उसी वर्ष शुभ लग्न में उसके मनमोहन से उसका शुभ विवाह सम्पन्न हुआ था। एक प्रतिष्ठित स्थानीय दैनिक में वर-वधू का चित्र प्रकाशित हुआ था। दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी। मायके से विदा हो कर वह ससुराल आई थी। और प्रथम मिलन की उस रँगीली रात को उन

दोनों का पारस्परिक सुख अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। पथिक मंज़िल पर पहुँच कर आनन्द से विभोर हो गये थे। उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में भी वे उत्तीर्ण हो गये थे।

वे उसे कितना प्यार करते थे! वह अपने को धन्य मानती थी, और कामना करती थी कि प्रत्येक स्त्री को प्रताप-जैसा ही पति मिले। लेकिन अकसर एकान्त में उसके मन में यह विचार उठता कि उसकी रस-भरी गागर कहीं छलक न जाय, गिर कर टूट न जाय। तब किसी अज्ञात आशंका के आतंक से उसका मन भर आता।

नाग-पंचमी का ही वह भी दिन था। साधारण नियम के विपरीत कारणवश उसे ससुराल में ही रुकी रहना पड़ा था। वह सारे दिन हवा में उड़ती रही थी। उसका हृदय उल्लास से उछला पड़ रहा था। अन्तर्देश में किसी चिन्ता की, किसी अशान्ति की छाया नहीं थी। आमोद किलकारियाँ मार रहा था, जीवन रस घोल रहा था—रंगीन, मदमाती तितली की तरह उड़ रहा था पल-पल। दिन बीता। रात आई। ग्यारह बजे। उसने शयनागार में प्रवेश किया। प्रताप ने उसे सबल भुजाओं में भर लिया। फिर उन्होंने उसका नख से शिख तक अपने हाथों से शृंगार किया और चूड़ियाँ पहिनाईं, जो ख़ुद बाज़ार से ख़रीद कर लाये थे।

"इस समय परी लग रही हो तुम!"

"रहने भी दो!"

"सच कहता हूँ, माया!"

"परियाँ इन्द्रपुरी में रहती हैं। यह तो मानव-लोक है!"

वे हँस पड़े।

"उतना खिलाओ, जितना हज़म हो सके!"

"बदहज़मी से डरती हो?"

"हाँ, डरती हूँ।"

और—

आँसू झर-झर गिरने लगे उसकी आँखों से।

× × ×

मुरवाड़ा लड़खड़ा उठा।

"छोटी चाची!"

"हाँ।"

"दरवाज़ा खोलो, छोटी चाची!"

"अच्छा।"

आँखें पोंछ कर, उठ कर, आशा ने कमरे का दरवाज़ा खोल दिया। कृष्णा झपट कर अन्दर आई।

"मैंने चूड़ियाँ पहिनी हैं, छोटी चाची," हँस कर कृष्णा ने कहा—"देखो, कैसी हैं?"

"अच्छी हैं।"

आशा चारपाई पर बैठ गई। कृष्णा उसकी गोद में आसीन हो गई।

"तुमने चूड़ियाँ नहीं पहिनी, छोटी चाची?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं पहिनीं?"

"ऐसे ही।"

"बतला दो, छोटी चाची।"

"मुझे चूड़ियाँ नहीं पहिननी चाहिए।"

"यह क्यों?"

"अभी तुम छोटी हो, कृष्णा। बड़ी हो जाओगी, तब तुम्हें सब आप ही मालूम हो जायगा।"

"छोटी चाची!"

उत्तर नहीं मिला। कृष्णा ने उसकी ओर देखा।

"अरे, तुम रो रही हो, छोटी चाची!"

आशा आँखें पोंछने लगी। कृष्णा उससे लिपट गई।

"न रोओ, छोटी चाची, न रोओ!" रोनी आवाज़ में कृष्णा ने अनुनय किया।

"नहीं, बिटिया, रोती नहीं हूँ," भर्राये हुए कण्ठ से आशा ने कहा। और असीम स्नेह से वह उसकी पीठ पर थपकियाँ देने लगी।

(२)

रात भीग चुकी थी। पानी बरस कर निकल गया था। आकाश के काले पर्दे में तारे झलमला रहे थे, और रह रह कर बिजली चमक उठती थी। शीतल, मन्द बयार बह रही थी। अपने कमरे में खिड़की के सामने

फर्श पर बिछी हुई चटाई पर पड़ी हुई आशा आकाश की ओर ताक रही थी। विचार चल रहे थे उसके मस्तिष्क में।

वह अधिकार क्या उसे पुनः प्राप्त नहीं हो सकता? हो क्यों नहीं सकता? बस, इस घर की क़ैद से निकलने भर की देर है। क्या वह इस क़ैद से निकल नहीं सकती? निकल क्यों नहीं सकती? उसे कौन रोक सकता है? लेकिन इस क़ैद से निकल कर वह कहाँ जायगी? प्रमोद के पास? पागल प्रमोद! कल्पना का रंगीन चश्मा लगा कर देखने से जो वस्तु रंगीन दीखती है, वह सचमुच रंगीन हो तो नहीं जाती? बच्चा खिलौना देख कर मचलता है, किन्तु उस खिलौने के प्रति उसका आकर्षण सदैव बना तो नहीं रहता? पुरुष स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु केवल उस स्त्री का शरीर पा कर वह सन्तुष्ट नहीं रह सकता! सन्तुष्ट रहने के लिये उस स्त्री से उसे और कुछ चाहिये। प्रमोद को देने के लिये उसके पास और कुछ कहाँ है? वह तो उस व्यक्ति के साथ चला गया, जिसने पहले-पहल उसके जीवन में आ कर उसके हृदय को झंकृत किया और समस्त बाधाओं से लड़ कर उसे अपनी बनाया।

इस परिवार से प्रमोद का दूर का सम्बन्ध था। धनी पिता का वह पुत्र था, स्वरूपवान् था, सुशिक्षित था, सभ्य था, हँसमुख था, गम्भीर था, भावुक था, दिलवाला था, और दिल की क़द्र कर सकता था। अक्सर वह इस घर में आता और उससे मिलता। कभी कोई भद्दी बात उसने नहीं की। लेकिन प्रताप की मृत्यु के एक वर्ष के बाद एक दिन उसने अपना हृदय उसके सामने खोल कर रख दिया। वह उसके कमरे में आया, नमस्कार किया, और उसके सामने एक पत्र फेंक कर चला गया। अनाप-शनाप बातें भरी थीं उस पत्र में। उसके प्रति अपने अगाध प्रणय की चर्चा उसने की थी, और याचना की थी उससे उसकी प्रीति की। "...तुम्हें मैं क्यों चाहता हूँ, यह मैं नहीं जानता। प्रणय तर्क पर आधारित नहीं होता। उसकी जड़ जिस गहराई में होती है, वहाँ तर्क की पहुँच नहीं हो सकती। मैं तो सिर्फ़ यह जानता हूँ कि तुम जैसी स्त्री मैंने आज तक नहीं देखी। मैं देखता हूँ तुम में सम्पूर्ण नारीत्व का रूप, और उसकी आराधना करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा यह निरर्थक जीवन तुम्हें पा कर सार्थक हो जायगा। मेरी बन सकोगी, आशा? मेरी ओर कोई बाधा नहीं है। अपनी इच्छा-अनिच्छा, रुचि-

अरुचि, विश्वास अविश्वास का स्वामी मैं स्वयं हूँ, और मेरे कर्मों पर किसी अन्य व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं है। इस मामले में किसी के विचारों की परवाह मैं नहीं करूँगा। तुम्हारी ओर भी कोई अड़चन न पड़ सकेगा, यदि तुम सहमत हो सको। तुम भी स्वतन्त्र हो और मैं भी स्वतन्त्र हूँ। सुधारवादी ढंग से हम विवाह के सूत्र में बँध कर यहाँ या कहीं अन्यत्र स्वतन्त्रता-पूर्वक रह सकते हैं। जीवन मार्ग कंटकाकीर्ण है। अकेले चलने में पग पग पर कठिनाइयाँ हैं, किसी के साथ हो लेने से रास्ता आसानी से कट सकता है। बना लो मुझे अपना सखा, अनुरोध करता हूँ, विनय करता हूँ, भिक्षा माँगता हूँ। कभी साथ नहीं छोड़ूँगा, वचन देता हूँ। कभी इस वचन से हटते देखना, तो मेरा काम तमाम कर देना। बेवफ़ा बन कर जीना मैं स्वयं पसन्द न करूँगा।" ऐसी ही बातें उस पत्र में भरी थीं। उसे पढ़ कर वह प्रसन्न नहीं हुई। उसने उसे फाड़ डालना चाहा, जला डालना चाहा, लेकिन यह सब वह कुछ नहीं कर सकी।

तीन दिन के बाद वह आया।

"उत्तर माँगने आया हूँ भाभी।"

"उत्तर!"

"हाँ, उत्तर!"

"जो कुछ चाहते हो, लाला, वह मेरे पास नहीं है।'

'यह मैं नहीं मान सकता।'

'न मानना चाहो, तो न मानो।'

'सब कुछ तुम्हारे पास है। न देना चाहो, तो न दो।'

"ख़ाली घोंसले से सन्तुष्ट रह सकोगे?'

'चिड़िया भी है घोंसले में।'

'यह भूल है तुम्हारी। वह तो उड़ गई।'

"लेकिन मैं तो उसे देख रहा हूँ।'

'यह तुम्हारी दृष्टि का भ्रम है।'

'और अगर तुम्हें ही भ्रम हो रहा हो तो?'

'तो!'

"हाँ, तो!'

वह विचारों में डूब गई। दुविधा सामने आ खड़ी हुई।

"ख़ूब सोच-विचार कर उत्तर देना। कोई जल्दी नहीं है। मैं प्रतीक्षा कर सकता हूँ।'

प्रमोद चला गया। वह चित्र-लिखित-सी बैठी रही।

एक पखवारे के बाद वह फिर आया, लेकिन उत्तर न पा सका। वह बराबर आता और निराश हो कर लौट जाता। वह प्रतीक्षा करता रहा—करता रहा।

प्रमोद का कथन सत्य है? वह स्वयं भ्रम में है? नहीं, नहीं। किन्तु वह दुःख का भारी बोझ लिये क्यों जी रही है? उसके मन में कामनायें क्यों उठती हैं? उसे संसार से उठ जाने की प्रेरणा नहीं हुई। कठोर अनुशासन की प्रतिक्रिया कामनाओं को जन्म दे रही है। किन्तु—प्रमोद! दीवाना प्रमोद!

भयावनी रात थी। रोग-शय्या पर अचेत पड़े थे प्रताप। चालीस दिन बीत चुके थे, लेकिन ज्वर उतरने का नाम नहीं लेता था। उनका सुन्दर, बलिष्ठ शरीर सूख कर काँटा हो गया था। कमरे में मोमबत्ती का मन्द प्रकाश फैला था। एक कुरसी पर बैठी हुई चिन्तित दृष्टि से वह उनके मुर्झाये चेहरे की ओर देख रही थी। सहसा उन्होंने आँखें खोलीं।

"आशा!"

"जी हाँ।"

"उजड़ा जा रहा है मेरा संसार! विवश हूँ, आशा।"

"यह क्या कह रहे हैं आप?"

"बिलकुल ठीक कह रहा हूँ।"

"शान्त रहिए। उत्तेजित न होइये। ज़्यादा बात न कीजिए। डाक्टर ने मना किया है।"

"ज़्यादा बात करने की मुझे इच्छा भी नहीं है। बस, तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ। अभी मौका है। थोड़ी देर के बाद निकल जायगा मौका।"

आशा की आँखों में आँसू छलक आये।

"अब मैं जा रहा हूँ, आशा। दुःख से बचना। सुख से रहने की कोशिश करना। मुझे भूल न जाना।"

आशा की आँखों से आँसू बहने लगे।

"रोओ नहीं आशा, रोओ नहीं! मुझे कष्ट हो रहा है। ओ...ह!"

वे अचेत हो गये। उनका शरीर अकड़ने लगा। वह चीख

घर के तमाम लोग दौड़ पड़े। ढोलक की ढमढमी समाप्त हो गई। कोहराम मच गया।

वह फफक-फफक कर रोने लगी। कुछ समझी है यह आई क्यों? कभी नहीं, कभी नहीं! किन्तु सन्तोष! आज में है सन्तोष।

रात बीत गई। भागवन्ती का दिन आ पहुँचा। गंगा-स्नान के लिए सब लोग चले गये। आशा घर में रह गई। उससे भी कहा गया था, लेकिन उसने इन्कार कर दिया था। महरी एक ओर बैठी हुई कुछ सोच रही थी।

"घूरे की माँ!"

"क्या है, बहू जी?"

"मेरा एक काम कर दोगी?"

"क्यों न करूँगी?"

"मेरे लिए चूड़ियाँ ला दो।"

"चूड़ियाँ ले कर क्या करोगी, बहूजी?"

"ज़रूरत है, मुझे।"

"अभी जाकर ला दूँगी।"

"जो चुड़िहारिन यहाँ आती है उसी के घर जाना। उससे कहना कि नई फैशनवाली चूड़ियाँ दे। यह लो रुपया।"

"अभी जाऊँ या दाल पीसने के बाद?"

"अभी चली जाओ, घूरे की माँ। आ कर दाल पीसना। तुम्हें इनाम दूँगी। किसी से यह बात न कहना।"

"नहीं, बहूजी, इतमीनान रखो, किसी से कुछ न कहूँगी। मेरी आदत ऐसी नहीं है। ऐसी होती, तो भले आदमियों के बीच कैसे टिकती?" वह चली गई।

आध घंटे के बाद महरी वापस आई। चूड़ियाँ ले आई। वे अच्छी थीं। आशा ने उसे इनाम दिया, और फिर ताकीद की कि इस बात की चर्चा वह किसी से न करे।

दिन बीता। रात आयी। ग्यारह बज गये। काम धंधे से निपट कर आशा अपने कमरे में पहुँची। उसने अपना दरवाज़ा बन्द किया, और लैम्प जलाया। फिर वह अपना शृंगार करने लगी। केश सँवारे, पैरों में महावर लगाया, हाथों में चूड़ियाँ पहिनीं, माँग में सिन्दूर भरा, चेहरे पर

क्रीम और पावडर मला, नाखून और ओंठ रँगे, गहने पहिने, रेशमी साड़ी धारण की, रेशमी जम्पर पहिना, इत्र लगाया, पान खाया। इस तरह सज-धज कर वह उधर रक्खे हुए दर्पण के सामने आ खड़ी हुई। 'इस समय परी लग रही हो तुम!' गूँज उठे प्रताप के ये शब्द उसके कानों में। उसका रोम-रोम पुलकायमान हो उठा। बड़ी सावधानी से उसने सेज बिछाई, और उस पर फूल बिखेरे। फिर एक सन्दूक से पति का एक फोटो निकाल कर वह सेज पर जा बैठी। वह उस चित्र को मंत्रमुग्ध-सी देखने लगी। वह उसे देर तक बैठी देखती रही। उसके चेहरे पर अगणित भाव आये-गये। सहसा उठ कर उसने एक सन्दूक खोली, और उसमें से कुछ निकाल कर खाया। फिर पति के चित्र को सीने से चिपका कर वह सेज पर लेट गई। उसके ओंठों पर अद्भुत मुस्कान नृत्य करने लगी। उसके चेहरे पर विजय-गर्व व्यक्त हो गया।

रात बीती। सवेरा हुआ। दिन चढ़ा।

"छोटी बहू! ओ छोटी बहू!" सास ने आवाज़ लगाई—"आज सोती ही रहेगी क्या? खाना कब बनेगा? आज भी छुट्टी का दिन है क्या?"

कोई उत्तर नहीं मिला।

"वाह जी वाह! देखो तो दोदा! साढ़े सात बज गये, अभी तक सो रही है! काम में जी ही नहीं लगता।"

"रहने दो, अम्मा जी," मँझली बहू ने कहा—"थकी होगी।"

"रहने क्या दूँ! यह लच्छन मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो साफ़ बात करती हूँ, चाहे किसी को अच्छी लगे या बुरी।"

"रोज़ तो यह तड़के ही उठती है। देखो, मैं जा कर देखती हूँ कि क्या बात है।"

मँझली बहू माया के कमरे के सामने पहुँची।

"दुलहिन! दुलहिन!"

कोई उत्तर नहीं मिला। दरवाज़ा खटखटाया। कोई नतीजा नहीं हुआ। उनका माथा ठनका।

"जीजी! जीजी!"

"क्या है?"

"ज़रा यहाँ तो आओ। अम्माजी को भी बुला लाओ।"

"अच्छा।"

वे दोनों भी आ पहुँचीं। फिर आवाज़ें लगाई गईं। दरवाज़ा पीटा गया। कोई परिणाम नहीं हुआ। तब मर्दों को ख़बर दी गई।

मर्द आये। दरवाज़ा तोड़ा गया। सब लोग दंग रह गये। सतीश के फ़ोटो को सीने से लगाये हुए कमला वहीं पड़ी ड्रेसिंग टेबल पर पड़ी थी। उसका शरीर निर्जीव था। कोहराम मच गया। मर्दों में सलाह हुई। एक डाक्टर बुलाया गया। उसने लाश की परीक्षा की।

"कम से कम छः घंटे पहले मर चुकी हैं," डाक्टर ने राय दी—"इन्होंने ज़हर खा कर आत्म-हत्या की है।"

"आत्म हत्या कहना तो ठीक न होगा, डाक्टर साहब," बाबू गुरु-सहाय ने कहा।

"तब?"

"हार्ट फ़ेल कहिए, डाक्टर साहब।" दस-दस के कई नोट डाक्टर के हाथ में देते हुए बाबू साहब ने कहा।

"बेहतर है," नोट जेब में रखते हुए डाक्टर ने उत्तर दिया—"मुझे कोई उज़्र नहीं है। मैं आपको सर्टीफ़िकेट दे दूँगा।"

"बड़ी कृपा होगी।"

मर्द बाहर चले गये। रोना-धोना फिर शुरू हो गया।

"ऐसा जान पड़ता है, जैसे सुख की नींद सो रही हो!" आह भर कर एक स्त्री ने कहा—"ऐसी सुन्दरता, भरी जवानी और ऐसा दुःख! हाय रे भाग्य!"

एक घंटा बीता। अर्थी अन्दर आई।

"मुन्ना की माँ!" भर्राये हुए स्वर में बाबू गुरुसहाय ने कहा—"बहू जिस तरह है उसी तरह उसे अर्थी पर लिटाओ। उसकी कोई चीज़ न उतारी जाए। वह देवी थी, सती थी!"

"[illegible]"

नहीं। काम ही कर रही थी। कह रही हूँ कि बात-बात पर बिगड़े बिना तो तुमसे रहा ही

. है, और तुम सीधी-सादी हो ?"
' पता चलता। दिन भर काम में लगी रहती नहीं रहता।"
' रहती हो, और मैं खेलता रहता हूँ!"
. से ब्याहे, मेरी क़िस्मत फूट गई!"
. करके मैंने भी सख्त ग़लती की!"
न क्यों नहीं देते?"
सताओगी, तो अभी मज़ा चखा दूँगा।"
भयावह सन्नाटा छा गया। दोनों मन ही मन अपने ोसने लगे। पान पति के सामने रख कर, किसी न ' कर, ललिता तेज़ी से कमरे के बाहर निकल गई। न खा कर, छड़ी ले कर, महेश दफ़्तर चला गया। साधारण घटना की छाया, वृहत् आकार धारण कर, । बोझ की तरह खड़ी रही। सन्ध्या के समय जब ' लौटा तब भी वह उद्विग्न था। उसे देखते ही उसकी ताआओ! कुछ सुना?"

ही है।"
, ... मलिनता की छाया हट गई। प्रसन्न होकर ... ओगी?"

भूल पर भूल

महेश चाहता है कि ज्यों ही वह भोजन या नाश्ता करके उठे, ललिता तुरन्त पान पेश करे। ललिता पातिव्रत्य के उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ नहीं है, कर्त्तव्यनिष्ठा की उपेक्षा भी वह नहीं करती। फिर भी जब किसी न किसी कारण, कभी विलम्ब हो जाता है और महेश आपे से बाहर होने लगता है, तब युग-युग से प्रताड़ित नारीत्व की व्यथा मानो उसके व्यक्तित्व के द्वारा विद्रोह का झंडा ऊँचा कर देती है। उस समय एक साधारण सी प्रतीत होने वाली घटना भयंकर रूप धारण कर उन दोनों के बीच एक दुर्जेय गढ़ की रचना कर देती है।

एक पान की ही बात क्या, अनेक ऐसी ही मामूली बातें उन दोनों के सम्बन्ध के बन्धन पर नित्य ही आघात करती रहती हैं। एक साथ पिंजड़े में बन्द दो विभिन्न स्वभाव वाले पक्षियों की भाँति शान्तिपूर्वक एकसाथ रहने में वे असमर्थ हैं। किन्तु उस कारागार से निकल कर स्वतन्त्र हो जाने के लिए जिस नीति की आवश्यकता है, उसका दोनों में अभाव है।

आज की ही बात ले लीजिये। सवेरे जब महेश ने ट्रंक से धुली हुई कमीज़ निकाली थी, तब उसने देखा था कि कई बटन टूट गये हैं। उसी समय ललिता से नये बटन लगा देने की उसने ताकीद कर दी थी, किन्तु भोजन कर चुकने के बाद जब पहिनने के लिए उसने कमीज़ उठाई तब बटन नहीं लगे थे। बस, उसके दिमाग का पारा चढ़ने लगा। एक ओर चटाई पर बैठी हुई ललिता पान लगा रही थी। उसकी ओर असंतोषपूर्ण दृष्टि से देख कर कड़वाई हुई आवाज़ में उसने कहा—"बटन तुमने अभी तक नहीं लगाये!"

"अभी लगाये देती हूँ।"

"लगाये देती हूँ! यहाँ देर हो रही है, और तुम्हें कोई फ़िक्र ही नहीं है। इसीलिए मैंने सवेरे कह दिया था, लेकिन तुम्हारी तो हर काम को टाल देने की

यों तो जब कभी उसे कहीं जाना होता था, वह रेलवे-स्टेशन पर ठीक वक्त ही पर पहुँचता था। किन्तु आज वह आध-घण्टा पहले ही स्टेशन पर पहुँच गया। रेलवे-स्टेशन पर मनोरंजन तथा अध्ययन के सामान का अभाव नहीं रहता। देखने वाली आँखों को वहाँ बहुत-कुछ देखने को मिल जाता है। विद्युत्-प्रकाश से आलोकित प्लेटफार्म पर पूरी चहल-पहल थी। विभिन्न सम्प्रदाय, जाति तथा रंग के यात्री, खोंचेवाले, फेरीवाले, कुली और अपने बड़प्पन में चूर कर्मचारी गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे। किन्तु महेश को मनोरञ्जन के किसी बाह्य साधन की आवश्यकता न थी। वह तो एक ही चित्र अपने भीतर-बाहर, चारों ओर देख रहा था। और वह चित्र था उसी का, जिसका स्वागत करने के लिये वह इस समय वहाँ उपस्थित था। उस चित्र को ले कर भाँति-भाँति की जो कल्पनायें उसके मस्तिष्क में उठ रही थीं, उन्हीं में वह तल्लीन था।

सीटी देती, भक-भक, फक-फक करती हुई गाड़ी आ पहुँची। अर्द्ध चेतना की दशा भंग हो गई। कल्पना-लोक से उसे प्रत्यक्ष जगत् में आना पड़ा। चौंक कर, बेंच छोड़ कर, वह उठ खड़ा हुआ। गाड़ी रुकी। सब लपटे। वह भी लपका। कर्ण-कटु शोर मच गया। चढ़ते-उतरते हुए मुसाफ़िरों की रेल-पेल, धक्कम-धक्का सहता हुआ वह एक-एक डिब्बा देखने लगा। आगे के सारे डिब्बे देख आया, किन्तु वह दिखाई न दी। तब वह मुड़ कर तेज़ी से पीछे चला। उसे दूर जाना नहीं पड़ा। इंटर के एक डिब्बे के सामने वह खड़ी थी। एक नवयुवक कुली से सामान उतरवा रही था। वह डिब्बे की ओर देख रही थी। समीप पहुँच कर वह बोला—"माधुरी!"

सिहर कर, मुड़ कर, माधुरी ने उसकी ओर देखा, और हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। उसने भी हाथ जोड़े।

"मज़े में रहीं?"

एक क्षण रुक कर, अवरुद्ध कण्ठ से वह बोली—"जी...हाँ।"

महेश को ऐसा ज्ञान पड़ा, जैसे उससे कोई भारी भूल, कोई भारी अपराध हो गया है। माधुरी के चेहरे की ओर वह ध्यान से देखने लगा।

"और आप?"

महेश भी हँसने लगा।

"अच्छा, लाला जी, ज़रा स्टेशन जा कर उसे लिवा लाना।"

"अच्छा।" मुस्कराता हुआ वह सीढ़ियों की ओर बढ़ा।

यह था रहा है—यहाँ, जिसने यौवन के आरम्भ काल में उसके व्यक्तित्व पर अपने व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव छोड़ दिया था। कितने साल बीत गये, कितनी ऋतुएँ आईं और चली गईं, वह स्वयं भी कितना बदल गया है, किन्तु शान्त रूप और सरल स्वभाव वाली वह माधुरी आज भी उसके हृदय के सर्वोच्च आसन पर आसीन है। उसकी प्रौढ़ता, उसका ज्ञान उसे उस आसन से हटा नहीं सका। वही आज आ रही है! उसका मन मस्ती में थिरक रहा था मयूर की भाँति, जो गगन मण्डल में उमड़ती हुई घटाओं को देख कर, पर फैला कर, मस्ती से नाचने लगता है!

ऊपर अपने कमरे में पहुँच कर उसने देखा, एक कोने में चटाई पर विषाद की मूर्त्ति बनी हुई ललिता निश्चल बैठी हुई है। उपेक्षा का जो भाव मन में लिये हुए वह घर लौटा था, वह अब दूर हो चुका था। कुरसी पर बैठ कर मीठे स्वर में उसने कहा—"मेरी धोती कहाँ है?"

ललिता निस्तब्ध रही।

"ललली!"

"यहाँ हो, ले न लो।"

"तुम्हीं दे दोगी तो क्या कोई हर्ज हो जायगा?"

"मैं तो कोई काम ही नहीं करती! फिर मुझसे कोई काम करने को क्यों कहते हो?"

"मैंने तो यह नहीं कहा था कि तुम कोई काम ही नहीं करतीं?"

"तुम हर काम को टालती हो, यह कहने का मतलब क्या है?"

"इसका मतलब कुछ नहीं है।"

"कहने के समय जो मन में आता है कह जाते हो, और बाद में कहते हो कि मैंने तो कुछ कहा नहीं था!"

"अरे बाबा, तुम जीतीं, मैं हारा! अब तो खुश हो?"

"मेरी खुशी या नाखुशी से तुम्हें क्या मतलब है?"

महेश ने कोई उत्तर न दिया। तब ललिता उठी, और दूसरे कमरे से धोती ले आई। कुरसी के हाथ पर धोती रख कर वह फिर चटाई पर जा बैठी। सुलह हो गई।

यों तो जब कभी उसे कहीं जाना होता था, वह रेलवे-स्टेशन पर ठीक वक्त ही पर पहुँचता था। किन्तु आज वह आध-घण्टा पहले ही स्टेशन पर पहुँच गया। रेलवे-स्टेशन पर मनोरंजन तथा अध्ययन के सामान का अभाव नहीं रहता। देखने वाली आँखों को वहाँ बहुत-कुछ देखने को मिल जाता है। विद्युत्-प्रकाश से आलोकित प्लेटफार्म पर पूरी चहल-पहल थी। विभिन्न सम्प्रदाय, जाति तथा रंग के यात्री, खोंचेवाले, फेरीवाले, कुली और अपने बड़प्पन में चूर कर्मचारी गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे। किन्तु महेश को मनोरंजन के किसी बाह्य साधन की आवश्यकता न थी। वह तो एक ही चित्र अपने भीतर-बाहर, चारों ओर देख रहा था। और वह चित्र था उसी का, जिसका स्वागत करने के लिये वह इस समय यहाँ उपस्थित था। उस चित्र को ले कर भाँति-भाँति की जो कल्पनायें उसके मस्तिष्क में उठ रही थीं, उन्हीं में वह तल्लीन था।

सीटी देती, भक-भक, भक-भक करती हुई गाड़ी आ पहुँची। अर्द्ध चेतना की दशा भंग हो गई। कल्पना-लोक से उसे प्रत्यक्ष जगत् में आना पड़ा। चौंक कर, बेंच छोड़ कर, वह उठ खड़ा हुआ। गाड़ी रुकी। सब झपटे। वह भी लपका। कर्ण-कटु शोर मच गया। चढ़ते-उतरते हुए मुसाफिरों की रेल-पेल, धक्कम-धक्का सहता हुआ वह एक-एक डिब्बा देखने लगा। आगे के सारे डिब्बे देख आया, किन्तु वह दिखाई न दी। तब वह मुड़ कर तेज़ी से पीछे चला। उसे दूर जाना नहीं पड़ा। इंटर के एक डिब्बे के सामने वह खड़ी थी। एक नवयुवक कुली से सामान उतरवा रही थी। वह डिब्बे की ओर देख रही थी। समीप पहुँच कर वह बोला—"माधुरी!"

सिहर कर, मुड़ कर, माधुरी ने उसकी ओर देखा, और हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। उसने भी हाथ जोड़े।

"मज़े में रहीं?"

एक क्षण रुक कर, अवरुद्ध कण्ठ से वह बोली—"जी...हाँ।"

महेश को ऐसा जान पड़ा, जैसे उससे कोई भारी भूल, कोई भारी अपराध हो गया है। माधुरी के चेहरे की ओर वह ध्यान से देखने लगा।

"और आप?"

एक दीर्घ निःश्वास खींच कर, लड़खड़ाती हुई आवाज़ में उसने कहा—"किसी...तरह...जीता हूँ।"

"आदाब अर्ज़!" नवयुवक ने समीप आ कर कहा।

"बंदगी!"

"यह मेरे देवर हैं," माधुरी ने परिचय दिया।

"अच्छा! आप पढ़ते हैं?"

"जी हाँ।"

"किस इयर में।"

"फ़र्स्ट इयर में।"

"बड़ी ख़ुशी की बात है।"

कुली ने सामान उठाया। सब फाटक की ओर चले। बाहर निकल कर वे एक ताँगे पर सवार हुए। नवयुवक ताँगे वाले के पास में बैठ गया, महेश माधुरी के। ताँगा चल पड़ा। महेश ने कहा—"ग्यारह साल बीत गये!"

"हाँ!"

"तुम तो यह सब भूल गई होगी?"

"जो बात असम्भव है, वह सम्भव कैसे हो सकती है?"

"यह तो ठीक कहती हो।"

सन्तोष की साँस खींच कर वह निस्तब्ध हो गया। माधुरी भी निस्तब्ध बैठी रही।

पच्चीस मिनट में वे घर पहुँच गये। मिलने-भेंटने की महत्वपूर्ण क्रिया आरम्भ हुई। थोड़ी देर में जब सब शान्त हो कर बैठ गईं, तब महेश ने कहा—"देखो, भाभी, ख़ैरियत से लिवा लाया न?"

"धन्यवाद! मैं तो डर रही थी कि इन्हें खो कर कहीं......"

"इरादा तो था, भाभी. "

"फिर क्यों चूक गये?"

"तुम्हारे डर से।"

सुमित्रा हँस पड़ी। वह भी हँसने लगा। माधुरी मुस्कराई। ललिता को यह दिल्लगी पसन्द नहीं आई। महेश ऊपर चला गया।

(२)

ऊपर अपने कमरे में पहुँच कर, सिगरेट जला कर, आरामकुरसी पर लेट कर, वह उसी मज़ाक़ की बात सोचने लगा। भाभी की चोट बड़े

मौक़े की थी, लेकिन उसके जवाब में वह बात न थी। हाज़िर-जवाबी हर आदमी में कहाँ होती है? शायद यह भी एक ईश्वरीय देन है। कैसी शक्ति है इस गुण में! कमरे में आ कर ललिता पति के उत्फुल्ल मुखमण्डल की ओर गम्भीर भाव से देखने लगी। दो-तीन क्षणों में जब उसे उसके आगमन का ज्ञान हुआ तब महेश ने मुस्कराती हुई आँखों से उसकी ओर देखा।

"आज तो ऐसे ख़ुश हो, जैसे कहीं गड़ा हुआ ख़ज़ाना पा गये हो!"

चोट खा कर, गम्भीर हो कर, ललिता के चेहरे की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देख कर, वह बोला—"इसका मतलब?"

"इसका मतलब क्या तुम नहीं समझते?"

"तुम्हारा इशारा माधुरी की तरफ़ है न?"

"हाँ, हाँ, उसी की तरफ है, जिसकी तारीफ करते तुम्हारी ज़बान नहीं थकती।"

"जो तारीफ़ के लायक़ है उसकी तारीफ़ करनी ही पड़ती है।"

"सारा ज़माना तारीफ़ के लायक़ है। अगर कोई नहीं है तो वह मैं हूँ।"

"तुम तारीफ के लायक नहीं हो, इसका एक सबूत तो यही है कि तुम एक ऐसी स्त्री से डाह करती हो, जिसे तुम अभी नहीं जानतीं।"

"इसमें क्या शक है! मैं नालायक हूँ, मैं डाह करती हूँ, मुझ में सारे संसार के अवगुण भरे हैं! फिर जब मैं ऐसी बुरी हूँ, तब मेरे साथ शादी करने की क्या ज़रूरत थी?"

"यह मेरे वश की बात नहीं थी।"

"तब जो बात तुम्हारे वश की हो, उसे अब कर डालो।"

"बस, ख़ामोश रहो!"

क्रोध से काँपती हुई ललिता तेज़ी से कमरे के बाहर चली गई। नया सिगरेट जला कर महेश कश पर कश खींचने लगा। एक झगड़ा समाप्त होते ही दूसरा आरम्भ हो गया। इस तरह कैसे काम चलेगा? नित्य की इस कुढ़न, इस जलन का कहाँ अन्त होगा? जिस स्त्री में सहनशीलता का ऐसा अभाव है, उसके साथ किस तरह निर्वाह किया जायगा? गहन वेदना उसके मन में उमड़ पड़ी।

ग्यारह साल पहले की स्मृतियाँ जाग पड़ीं। एक दृश्य सामने

आया। सुमित्रा के मायके से उसके आने की सूचना पा कर वह सीधा आया। दालान में खड़ी हुई सुमित्रा बाहर उतार रही थी, और उसके समीप खड़ी थी एक नवयुवती। कौतूहलपूर्ण दृष्टि से महेश ने नवयुवती की ओर देखा। नवयुवती ने एक बार उसकी ओर देख कर सिर झुका लिया।

"नमस्ते, भाभी!" महेश ने सामने आ कर कहा।

"नमस्ते!" मुस्करा कर सुमित्रा ने उत्तर दिया। उसने कहा—"देखो, लालाजी, तुम्हारे लिए दुलहिन लाई हूँ!"

झेंप कर नवयुवती दीवार की ओर देखने लगी। सिर झुका कर महेश मुस्कराने लगा।

"तुम्हें पसन्द है?"

"जब तुम पसन्द करके लाई हो, तब मुझे नापसन्द कैसे हो सकती है?"

"तो इसके साथ शादी करोगे?"

"क्यों न करूँगा?"

"वचन दे रहे हो, लाला, पीछे इनकार न कर जाना।"

"इनकार करने वाला आदमी मैं नहीं हूँ।"

"बस, ठीक है। माधुरी! तू भी तो इन्हें देख ले। इन्हें के सामने इतना लजाने से काम न चलेगा!"

माधुरी सिमट कर दीवार से चिपक गई। सुमित्रा हँसने लगी। महेश भी मुस्कराने लगा।

इस तरह हँसी-हँसी में किया गया यह प्रस्ताव महेश के दिल में घर कर गया। दूसरे दिन एकान्त में वह माधुरी से मिला। माधुरी भी उससे मिलने के लिए कम उत्सुक न थी। थोड़ी ही देर में दोनों घुल-मिल गये। तब उसने कहा—"मेरे साथ शादी करोगी, माधुरी?"

"यह क्या मेरे वश की बात है?"

"किन्तु यदि यह तुम्हारे वश की बात होती, तो?"

"तो मैं क्यों इनकार करती?"

प्रणय के इस आश्वासन से उसे कितना सन्तोष प्राप्त हुआ था! दिन-प्रति दिन एक-दूसरे के प्रति दोनों की आसक्ति बढ़ती गई। माधुरी को महेश में आदर्श पुरुष का दर्शन प्राप्त होता था, और महेश को माधुरी में आदर्श नारी का। इन दोनों के पारस्परिक भावों से चतुर

सुमित्रा अनभिज्ञ न थी। भविष्य के विचार से छेड़ी हुई अपनी 'स्कीम' को सफल होती देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न थी। अन्त में विदाई-जुदाई का दुर्दिन आ ही पहुँचा। अनिर्वचनीय मनोव्यथा के आँसू बहा कर, एक-दूसरे को पत्र लिखने का वचन दे कर, दोनों जुदा हुए। माधुरी अपने घर चली गई। महेश के दुःख का पारावार न था। कई दिनों के बाद जब उसे माधुरी का प्रथम पत्र प्राप्त हुआ, तब उसे कुछ शान्ति मिली। उसने भी तुरन्त उत्तर दिया। पत्र-व्यवहार जारी रहा।

दो मास के बाद माधुरी के पिता ने महेश के पिता को पत्र लिख कर माधुरी के साथ महेश के विवाह का प्रस्ताव किया। पूरी तरह जाँच-पड़ताल करके, महेश के पिता ने माधुरी के पिता को लिखा—"आपकी लड़की के साथ अपने लड़के की शादी करने में मुझे कोई उज्र नहीं है, लेकिन आप यह तो लिखिए कि आप कितना देंगे।" माधुरी के पिता ने धन्यवाद दे कर पूछा कि वे कितना लेंगे। महेश के पिता ने तीन हज़ार माँगे। माधुरी के पिता दो हज़ार देने को राज़ी हुए। महेश के पिता इतने पर राज़ी नहीं हुए। माधुरी के पिता ने अधिक देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। महेश के पिता ने लिखा—"जितना कह चुका हूँ, उससे कम न लूँगा। आपने फ़िज़ूल मेरा और अपना समय नष्ट किया।" माधुरी के पिता ने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानता था कि जनाब का वक्त इतना क़ीमती है, वर्ना उसे नष्ट करने का हर्गिज़ साहस न करता! क्या रुपया-पैसा ही सब कुछ है, ईमानियत, मुरौवत कोई चीज़ नहीं?" बस, दो-एक कड़े ख़त और आये-गये, और प्रस्ताव रद हो गया। महेश और माधुरी के ऊपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। महेश ने माधुरी को लिखा—"पिता जी बड़े ज़िद्दी आदमी हैं। ख़ैर, वे नहीं मानते तो न मानें। मुझे इसकी परवाह नहीं है। मेरी राय तो यह है कि हम दोनों कहीं निकल चलें। इतने बड़े संसार में हमें कहीं न कहीं आश्रय अवश्य मिल जायगा। बोलो, माधुरी, तुम में साहस है?" माधुरी ने उत्तर दिया—"आपका प्रस्ताव तो बिल्कुल ठीक है, किन्तु आप पुरुष हैं, और मैं स्त्री हूँ। समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष से भिन्न होती है। पुरुष को हमारा समाज आसानी से माफ़ कर देता है, किन्तु स्त्री के प्रति ऐसी उदारता दिखाना उचित नहीं समझता। समाज की उपेक्षा और निन्दा सहन कर सकने की शक्ति मैं अपने में नहीं पाती। फिर, हमारे उस कृत्य के कारण हमारे कुटुम्बवालों को जिस विकट अपमान का सामना करना

पहुँचा, उसकी कल्पना करती हूँ, तो जी घबरा जाता है। आपके बिना मुझे भी सारा संसार सूना दिखाई देता है, किन्तु यदि मेरे भाग्य में दुःख झेलना बदा है, तो मुझे उसे धैर्यपूर्वक भोगना चाहिए। आप अब मुझे भूल जाने की कोशिश कीजिए। मैं भी आपको भूल जाने का प्रयत्न करूँगी।" यह पत्र जब महेश को मिला, तो उसकी रही सही आशा भी जाती रही। माधुरी को उसने फिर कोई पत्र नहीं लिखा। धीरे-धीरे माधुरी के आदेश के औचित्य को उसे स्वीकार करना पड़ा। ज्यों ज्यों समय बीतने लगा, उसकी मनोवेदना का भार भी हलका होने लगा। [illegible]
महेश ह [illegible]
उसे छु [illegible]
पहुँचो।

यह नीरस, शुष्क, अहरह जीवन! यह 'कमधाहत को संग!' क्या रक्खा है ऐसे जीवन में? किन्तु यदि माधुरी उस समय उसके प्रस्ताव का विरोध न करती, उससे सहमत हो जाती, तो, कैसा सुन्दर होता यह जीवन—शैल-शिखर की भाँति उच्च, गंगा-जल की भाँति पवित्र! समाज सदैव तो उन दोनों की उपेक्षा कर न सकता।

"बाबूजी!" कमरे में आ कर नौकर ने कहा।

"क्या है?"

"खाना खाने चलिए।"

"जा कर कह दो कि इस वक्त मैं खाना न खाऊँगा।"

"बहुत अच्छा।" नौकर चला गया।

"वह फिर विचारों में मग्न हो गया। दो मिनट के बाद सुमित्रा ने कमरे में प्रवेश किया।

"खाना खाने चलो, लाला।"

"मैं इस वक्त नहीं खाऊँगा।"

"क्यों?"

"तबीअत ठीक नहीं है।"

"तबीअत ठीक नहीं है, या और कोई बात है?"

वह निस्तब्ध रहा।

"मैं पहले ही समझ गई थी। इस वक्त क्यों झगड़ा हुआ?"

"एक बेमतलब की बात पर। उसका मिज़ाज ऐसा ख़राब है कि मैं तो हैरान हो गया हूँ।"

"तो क्या तुम्हारे भोजन न करने से उसका मिज़ाज ठीक हो जायगा?"

"नहीं।"

"तुम समझदार हो, वह नासमझ है। मौके पर थोड़ी डाँट-फटकार और बाद में समझाने-बुझाने से ही वह सुधर सकती है। डर कर, रूठ जाने से यह काम नहीं हो सकता।"

"क्या मैं समझाता बुझाता नहीं? लेकिन उसके दिमाग़ में तो कूड़ा भरा है।"

"कूड़े को देख कर झुझलाने से तो वह साफ़ नहीं हो सकता! सब्र से शुरू कर साफ़ करने से ही वह साफ़ हो सकता है। उठो, चलो।"

महेश उठ कर सुमित्रा के साथ नीचे चला गया।

(३)

दूसरे दिन की बात है। सवेरे का समय था। आरामकुरसी पर लेटा हुआ महेश समाचार-पत्र पढ़ रहा था। माधुरी ने कमरे में प्रवेश किया। उसे देख कर महेश उठ बैठा।

"आओ, बैठो!"

माधुरी चटाई की ओर बढ़ी।

"नहीं, नहीं, इस पर बैठो," एक कुरसी की ओर संकेत करके वह बोला।

माधुरी कुरसी पर बैठ गई।

"बहिन कहाँ है?"

"नीचे होंगी।" उसके माथे पर सिकुड़न पड़ गई।

महेश के चेहरे की ओर देख कर माधुरी ने कहा—"उन से आपकी नहीं पटती क्या?"

"नहीं। तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"दीदी कहती थीं।"

"ऐसी बदमिज़ाज औरत से किसी की नहीं पट सकती।"

माधुरी निस्तब्ध रही।

"कल की ही बात ले लो। जानती हो, कल रात को क्यों झगड़ा हुआ था?"

माधुरी ने उसके चेहरे की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।
"इसलिए कि मैं तुम्हारे आने से दुखी था!"
अप्रसन्नता की छाया माधुरी के मुखमण्डल पर छाई और चली गई। कई क्षणों तक चुप रह कर वह बोली—"अपनी दुखी बात ज़ाहिर न होने देते, तो क्या हो जाता?"
"अपनी दुखी की कोई बात मैंने उससे नहीं कही थी।"
"तो आपके चेहरे ने कह दिया होगा।"
"मुझे दुखी देख कर उसे चिढ़ने की तो ज़रूरत न थी?"
"उसका नाखुश होना बिलकुल स्वाभाविक था!"
"क्यों?"
"इसलिए कि कोई स्त्री यह नहीं चाहती कि उसका मर्द किसी दूसरी स्त्री को देख कर खुश हो!"
गम्भीर दृष्टि से वह उसके चेहरे की ओर देखने लगा। कितनी उदार-हृदया है माधुरी!
"एक बात पूछूँ, माधुरी?"
"पूछिए।"
"तुम यहाँ क्यों आई हो?"
"सच कहूँ?"
"बिलकुल सच।"
"आपको एक बार देखने के लिए!"
"धन्यवाद!"
"क्या देखा तुमने?"
"देख रही हूँ कि आप बहुत दुःखी हैं।"
"और तुम?"
"जड़ मशीन की तरह शारीरिक आवश्यकतायें पूरी करने को यदि सुख कह सकते हैं, तो मैं सुखी हूँ! किन्तु वास्तव में क्या यह सुख है!"
दोनों कई क्षणों तक खोये हुए से बैठे रहे।
"माधुरी!"
"जी हाँ।"
"एक बात मैं अक्सर सोचता हूँ।"
"कौन सी बात?"
"यही कि यदि आज से ग्यारह साल पहले तुमने मेरे उस प्रस्ताव

का विरोध न किया होता, तो कदाचित् हमारे जीवन की धारायें एक हो कर सुख के निस्सीम मार्ग पर बहती होतीं !"

"यह तो मैं मानती हूँ कि उस समय मुझसे भयङ्कर भूल हो गई थी।"

"यह भी जानती हो कि हमारी कठिनाइयाँ कैसे हल हो सकती हैं ?"

"जानती हूँ।"

"कैसे ?"

"आपके उसी प्रस्ताव से।"

"तब क्या कहती हो, माधुरी ?"

"आपके प्रश्न का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता।"

"क्यों ?"

"इसलिये कि हम दोनों के बीच में दो अन्य व्यक्ति आ गये हैं।"

"तब ?"

"विचार करने के लिये समय चाहिए।"

"कब तक जवाब दे सकोगी ?"

"कल तक।"

"अच्छी बात है, विचार कर लो। मैं तो बहुत विचार कर चुका हूँ, और पूरी तरह तैयार हूँ।"

"अच्छा, अब जाती हूँ।"

"जाओ।"

माधुरी की दशा उस समय उस भटके हुए पथिक की-सी हो गई थी, जो अन्धकार में मार्ग खोज रहा हो !

सन्ध्या के समय दफ्तर से घर लौट कर जब महेश अपने कमरे में पहुँचा, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। ललिता बेहद खुश थी। पति के हाथ से छड़ी ले कर तेज़ी से कोने में रख कर, वह धोती ले आई। महेश उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखता रहा। जब वह धोती पहिनने लगा, तो ललिता ने मुस्करा कर कहा—"बड़ी अच्छी स्त्री है, माधुरी !"

"यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?"

"आज दोपहर में बड़ी देर तक वह मुझसे बातें करती रही। उसके विचार बड़े ऊँचे हैं। मैंने उसके बारे में जो कुछ सोचा था वह बिलकुल ग़लत था।"

"सब बातों को अच्छी तरह सोचने के बाद किसी के बारे में धारणा कायम करनी चाहिए।"

"ठीक कहते हो।"

दूसरे दिन सवेरे फिर माधुरी उस कमरे में आई। उसका चेहरा उतरा हुआ था, आँखें लाल थीं। महेश ने चिन्तित स्वर में पूछा—"तबीयत ख़राब है क्या?"

"नहीं," कुरसी पर बैठकर उसने कहा।

"तब क्या रात में देर तक जागती रही?"

"रात भर जागती रही।"

"क्यों?"

"विचार करती रही। इस समय आपको उत्तर देने आई हूँ।"

"तैयार हो?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"इसलिए कि दो बसे हुए घरों में आग लगा देना मैं उचित नहीं समझती।"

"माधुरी! माधुरी!"

"उस समय हमारा अपराध क्षमा करने के योग्य होता, किन्तु अब तो वह अक्षम्य हो जायगा।"

"आज फिर भारी भूल कर रही हो, माधुरी!"

"जानती हूँ कि भूल कर रही हूँ, और इसके लिए हम दोनों को भारी मूल्य चुकाना होगा।"

"मैं क्या करूँ?"

"पत्थर के बन जाओ!"

"माधुरी, इस हाड़-मांस के शरीर में एक दिल भी तो आन्दोलन कर रहा है!"

"अभ्यास से वह भी क़ाबू में आ जायगा।"

"और तुम क्या करोगी?"

"किसी न किसी तरह दिन कट ही जायँगे।"

"माधुरी! माधुरी!"

प्रबल वेग से आँखों में आते हुए आँसुओं को रोकती हुई उठ कर वह तेज़ी से कमरे के बाहर चली गई। महेश ने हाथों में मुख छिपा लिया। अकथनीय वेदना उसके हृदय में हाहाकार कर रही थी।

सन्ध्या के समय जब वह दफ़्तर से वापस आया, तब सुमित्रा ने कहा—"माधुरी तो चली गई, लाला।"

"चली गई! कहाँ?"

"मायके।"

"क्यों?"

"कहती थी कि जी घबरा रहा है, जाऊँगी। मैंने बहुत रोका, लेकिन वह नहीं मानी।"

"कब गई?"

"बीस मिनट हुए होंगे।"

तुरन्त मुड़ कर महेश तेज़ी से सदर दरवाज़े की ओर चला।

"कहाँ जाते हो, लाला?"

"अभी आता हूँ।" दो पल में वह गली में था।

सड़क पर पहुँच कर एक इक्के पर सवार हो कर उसने इक्केवाले से कहा—"तेज़ी से स्टेशन चलो।"

"कौन टेसन चलूँ, बाबू जी? कलपुरवा?"

"हाँ। जल्दी चलो।"

इक्का तेज़ी से चल पड़ा।

स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुँच कर महेश ने देखा, माधुरी एक ओर अपने ट्रंक पर बैठी है, और उसका देवर अमरनाथ पास ही खड़ा है।

समीप पहुँच कर अमरनाथ को इकन्नी दे कर उसने कहा—"ज़रा पान ले ले आइए, बाबू अमरनाथ।"

"बहुत अच्छा।" अमरनाथ पान लाने चला गया।

"जा रही हो, माधुरी?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"मैं डर गई!"

"मुझ से?"

"आपसे अधिक अपने से!"

"अब कब आओगी?"

"जब आप मुझे यह लिखेंगे कि अपने दिल पर आपने पूरी तरह क़ाबू पा लिया है!"

"अच्छी बात है, यही सही।"

अमरनाथ पान ले कर आ गया। गाड़ी भी आ गई। गाड़ी पर सवार हो कर, हाथ जोड़ कर, माधुरी ने कहा—"क्षमा माँगती हूँ!"

"क्षमा! तुमने कौन-सा अपराध किया है, माधुरी?"

कुछ सोच कर माधुरी रूमाल से अपनी आँखें पोंछने लगी।

गाड़ी चल पड़ी। महेश की आँखों से आँसुओं की लड़ियाँ बह निकलीं।

अनुराग

ललित से कमला डरती थी, किन्तु उसका आदर करती थी। आदर ही नहीं, वह उसे प्यार भी करती थी। इसी प्यार ने तो एक दिन उससे कहा था, 'ललित को पाने के लिए सारे संसार की अवहेलना करने से तुम्हें कोई पाप न लगेगा!' जब एकाएक उसका सुहाग लुट गया, तो अनेक स्वजातीय विधुर बैठकों के प्रस्ताव ले कर उसके पास आये, किन्तु वह किसी को स्वीकृति न दे सकी। एक दिन विजातीय ललित भी आया, मानो भक्त के घर भगवान् ने पदार्पण किया! कमला आनन्द से विभोर हो गयी। ललित ने मुस्करा कर पूछा—"मेरी हो सकती हो, कमला?"

सिर झुका कर, मुस्करा कर, कमला ने तुरन्त उत्तर दिया—"क्यों नहीं?"

"लेकिन जानती हो, बिरादरी से बाहर कर दी जाओगी?"

"बिरादरी गलती करे, तो क्या मैं भी करूँ? नहीं, मुझ से यह न होगा। आपकी क्या कम बदनामी होगी?"

"मैं तो तुम्हें चाहता हूँ, दुनिया की नेकनामी मुझे नहीं चाहिए!"

बस, उसी दिन कमला ललित के घर जा बसी। लोगों ने सुना और चकित रह गये। फिर सारे समाज का क्रोध, भाँति-भाँति के रूप धारण कर, दोनों के ऊपर बरसने लगा। कमला के घर वालों ने नालिश दायर की। उन लोगों ने कहा, 'ललित ने कमला को बहकाने और भगाने के जुर्म किये हैं, और कमला नाबालिग है।' ललित ने कहा, 'कमला मेरे पास स्वेच्छा से आयी है। वह नाबालिग नहीं है, और मैंने उसे बहकाने और भगाने के जुर्म नहीं किये।' कमला ने कहा, 'ललित के पास मैं स्वेच्छा से आयी हूँ। मैं नाबालिग नहीं हूँ, और ललित ने मुझे बहकाने और भगाने के जुर्म नहीं किये।' डाक्टर ने कहा, 'कमला नाबालिग नहीं है।' अन्य गवाह पेश हुए। वकीलों की चोंचें लड़ीं। अदालत ने फैसला किया, 'कमला बालिग है। किसी के पास जाने के लिये वह स्वतन्त्र है। कमला को बहकाने और भगाने के जुर्म ललित

पर शामिल नहीं हुए। वह नहीं किया गया।" ऊपर की मर्यादाओं के मनुष्य के मानदण्ड का फैसला बदल गया। किन्तु कमला के प्राणों में खलिश क. पीछा नहीं छोड़ा। वह अंश एक कोने में मौजूद था। तब बाहर, उसने कोशिश की, बदली हो गयी। कमला को ले कर वह एक दूर के शहर को चला गया। कमला के घर वाले हार कर बैठ गये।

नये शहर में कोई कुछ कहने वाला न था। दोनों आनन्द-सागर में किलोलें करने लगे।

वर्ष पर वर्ष आये और चले गये।

दोनों लड़ते झगड़ते थे, लेकिन एक-दूसरे पर जान देते थे। आदर्श दम्पति की बात चलने पर लोग उन दोनों की मिसाल देते थे। दोनों का एक छोटा-सा संसार था। मनुष्य वहाँ रम गये थे। तूफ़ान भी आते थे, किन्तु उसकी रमणीयता नष्ट करने में असमर्थ होकर चले जाते थे। जीवन उसके कण-कण में मस्ती से थिरकता था। आशायें फूलती फलती थीं। सुख का प्रकाश कभी कभी दुःख की घटाओं में छिप जाता था, किन्तु घटाओं का हटना ही पड़ता था।

प्रातःकाल का समय था। आरामकुर्सी पर बैठा हुआ ललित हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। सहसा कमरे में प्रवेश करके कमला ने कहा—"कोई साफ पायजामा नहीं है। आज क्या पहिन कर जाओगे?"

"ठीक तरह देखा था?"

"सारे ट्रंक उलट डाले। एक भी नहीं है।"

"इस समय धोबिन आ जाती, तो बहुत अच्छा होता।"

"धोबिन आठ दिन से पहले नहीं आती। आज दसवाँ दिन है। इस समय वह कैसे आ जायगी?"

"यह तो तुम ठीक कहती हो। ख़ैर, आज धोती ही पहिन कर दफ़्तर चला आऊँगा।"

"इतने दिनों से कह रही हूँ कि कपड़ा ख़रीद कर पायजामें सिलवा लो, लेकिन तुम तो आज-कल मेरी कोई बात ही नहीं सुनते।"

इस उलाहने में उसके लिये जो फ़िक्र थी, उसे उसने पसन्द किया; किन्तु कमला के मुख से अपनी प्रतिकूल आलोचना सुनना उसे सख़्त नापसन्द था। खटक पैदा हो गयी। वह ज़ोर से हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। कमला कमरे से बाहर हो गयी।

साढ़े नौ बज चुके थे। स्नान करके ललित भोजन करने के लिये तैयार बैठा था, किन्तु खाना अभी तैयार न था। खीझ रोष में परिणत हो रही थी। उठ कर, कमरे में टहल कर, बाहर निकल कर, उस ओर जा कर उसने रसोई-घर में प्रवेश किया। कमला आटा गूँध रही थी।

"अभी तक खाना तैयार नहीं हुआ?"

"अभी तैयार हुआ जाता है।"

"क्या ग्यारह बजे दफ़्तर जाऊँगा? न जाने कौन-सा पकवान बना रही हो कि अभी तक...।"

"देर हो गयी, तो क्या करूँ? सवेरे से इसी में लगी हूँ।"

"देर होगी, तो तुम्हारा क्या बिगड़ेगा? आफ़त तो मेरे सिर पर आयेगी।"

"कौन ऐसी आफ़त आ जायगी? बहुत होगा, ग़ैरहाज़िर कर दिये जाओगे।"

"ज़बान लड़ाना कोई तुमसे सीखे। जितना बकती हो, उतना ही काम भी करो, तो ऐसी नौबत क्यों आये?"

"हाँ, हाँ, मैं तो पड़ी रहती हूँ। ज़रा-सी बात के लिए जान खाये जा रहे हैं। गोया मैं बैठी हूँ।" उसका गला भर आया। आँसू की बूँदें आँखों से निकल कर गालों पर ढुलकने लगीं।

ललित क्रोध से उबलता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

दस मिनट में दफ़्तर जाने के लिए तैयार हो कर, वह अपने कमरे से बाहर निकला। जूतों की आवाज़ सुन कर, रसोई-घर से बाहर निकल कर कमला ने देखा, वह सीढ़ियों पर था।

"बिना खाये चले जाओगे क्या? रुको, रुको! खाना तैयार है।"

किन्तु बिना कोई उत्तर दिये, वह तेज़ी से नीचे उतर गया। वह दौड़ी, लेकिन उसे रोक नहीं सकी। वह घर से बाहर हो गया। तब रसोई-घर में लौट कर, उसने चूल्हे में पानी डाल दिया। फिर शयनागार में जा कर वह अपने बिस्तर पर गिर पड़ी। अब खाना बना कर क्या होगा? बिगड़ गये तो बिगड़ गये! कितनी बुरी है उनकी आदत! कितने बुद्धिमान हैं; किन्तु जब क्रोध आ जाता है, तो उनकी दशा बिलकुल बच्चों की-सी हो जाती है। उस समय उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। कोई दूसरी स्त्री होती, तो पता चलता। एक ब्याही भी तो थी, लेकिन अब तक उसके फूहड़पन की, बदमिज़ाजी

को, सुस्ती की शिकायत करते हैं। एक यह है कि पैर धो धो कर पीता है। फिर भी मच ही जाती है हाय तोबा।

सेविका मनकी आयी, और रसोई घर में गयी। उसका माथा ठनका। तब वह शयनागार में गयी। कमला आँखें बन्द किये पड़ी थी। साहस करके वह बोली—"बहूजी!"

कमला ने आँखें खोलीं।

"कैसा जी है, बहू जी?"

"खाना उठा ले जा, मनकी।"

"आप न खायँगी क्या?"

"नहीं।"

"क्यों, बहूजी?"

"जा यहाँ से। फिजूल बक बक मत कर।"

सहम कर मनकी चली गयी।

ढाई बजे ललित घर लौटा। अपने कमरे में आ कर वह आराम-कुरसी पर लेट गया, और कराहने लगा। रह रह कर छींकें आ रही थीं। कमला आयी, और आशंकापूर्ण दृष्टि से पति के चेहरे की ओर ताकने लगी। मुख फेर कर वह दीवार की ओर ताकने लगा। कराहना उसने बन्द कर दिया।

"कैसी तबीयत है?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। कई छींकें एक साथ आयीं। उसे उठ बैठना पड़ा। रूमाल निकालने के लिए उसने शेरवानी की जेब में हाथ डाला। कमला ने झुक कर उसके माथे पर हाथ रक्खा।

"बाप रे! तुम्हें तो बड़े जोर का बुखार है। उठो, चल कर बिस्तर पर लेटो। उठो, उठो!"

विवश हो कर वह उठा। उसका हाथ पकड़ कर वह उसे शयनागार में लिवा ले गयी। उसके बिस्तर पर उसे आराम से लेटा कर, वह बाहर निकली।

"रामदीन! रामदीन!"

"क्या है, बहूजी?" नीचे से सेवक ने उत्तर दिया।

"जल्दी ऊपर आओ।"

"अच्छा, बहूजी!"

रामदीन दौड़ता हुआ आया।

"फौरन डाक्टर साहब के पास जाओ, और उन्हें अपने साथ लिवा लाओ।"

रामदीन नीचे भागा।

डाक्टर साहब आये, परीक्षा की, नुस्खा लिखा, फीस ली, और चले गये। दवाखाने से दवाइयाँ आयीं। इलाज शुरू हो गया।

बिस्तर के समीप कुरसी पर बैठी हुई कमला ललित के मत्थे पर 'बाम' मल रही थी।

"कमला!"

"हाँ।"

"आज तुमने खाना नहीं खाया?"

कमला निस्तब्ध रही।

"ननकी से मैंने खाना बनाने के लिए कह दिया है। दर्द बहुत कम हो गया, अब रहने दो। जा कर खाना खा लो।"

कमला चुपचाप दवा मलती रही।

"जाओ, कमला।"

"नहीं, मैं खाना न खाऊँगी।"

"क्यों?"

"तुम भूखे रहो, और मैं खाना खाऊँ! मुझ से यह नहीं हो सकता।"

"भूखा तो मैं नहीं रहूँगा। दूध तो मुझे पीना ही पड़ेगा।"

"दूध पीने से क्या होता है?"

"न जाने के दिन तक मुझे खाना न मिलेगा। तब तक क्या भूखी ही रहोगी, कमला?"

"भूखी क्यों रहूँगी? जो कुछ तुम खाओगे, वही मैं भी खाऊँगी।"

"कमला! आज मैंने जानवर का-सा बर्ताव किया था। मैं आग में जल रहा हूँ!"

"कैसी बातें करते हो? कसूर तो मेरा था।"

"कसूर तुम्हारा था! नहीं, कमला, जो आदमी अपने सुन्दर छिपे हुए जानवर को काबू में नहीं रख सकता, वह आदमी नहीं है!"

"ऐसी बातें न करो। तबीयत ज्यादा खराब हो जायगी।"

"जब तक खाना न खाओगी, मेरा मन शान्त नहीं होगा। उठो, जाओ।"

तब, धीरे से उठ कर कमला कमरे के बाहर चली गयी। ललित ने शान्ति की साँस ली।

(८)

सामान्य ज्वर निमोनिया में परिवर्तन हो गया। कमला के दुःख का पारावार न था।

दवाइयाँ बदलीं, डाक्टर भी बदले, लेकिन रोग काबू में न आया। दिन प्रति दिन रोगी की दशा बिगड़ती ही गयी।

प्रलयकाल सा उपस्थित हुआ। भयङ्कर अन्धकार के गर्भ में प्रकाश विलीन होने लगा। वह संसार हाहाकार कर उठा।

रात हो गयी थी। वेदना की मूर्ति बनी हुई कमला ललित के सीने पर 'वायपम्मैंथर' मल रही थी। ललित आँखें बन्द किये पड़ा था।

"बस रहने दो, कमला," आँखें खोल कर ललित ने कहा।

"दर्द अब कैसा है?"

"बहुत कम हो गया है।"

"लाओ, पीठ पर भी मल दूँ।"

"मल दो।"

उसने करवट बदली। वह पीठ पर धीरे-धीरे दवा मलने लगी।

"कमला!"

"हाँ।"

"डर्बी का समय निकट आ रहा है।"

"कब ड्रा होगी?"

"सिर्फ दो महीने बाकी हैं। टिकट तुम ने कहाँ रक्खा है?"

"शायद आबनूसवाले सन्दूक में।"

"कल खोल कर देख लेना कि उसमें है कि नहीं।"

"अच्छा।"

"मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इस साल मेरी जीत जरूर होगी।"

"देखो, उम्मीद तो हर साल ही रहती है; लेकिन, जब जीत हो तब तो।"

"नहीं, कमला, इस साल मैं जरूर जीतूँगा।"

"इस से अच्छी बात और क्या हो सकती?"

"कहीं एक चौथा इनाम मिल जाता, तो जिन्दगी सफल हो जायगी। एक अच्छा सा बंगला बनवा लूँगा, मोटर खरीद लूँगा, बहुत

से नौकर रख लूँगा, कोई तिजारत शुरू कर दूँगा। दिन-रात चैन ही चैन रहेगा!"

"ज्यादा बात न करो। डाक्टर ने मना किया है।"

"तुम्हारे लिए गहनों के ढेर लगा दूँगा—एक सेट सोने के गहने, एक सेट मोतियों के, एक सेट जवाहरात के। सैकड़ों साड़ियाँ खरीदूँगा, सैकड़ों जम्पर, और जूते, और लैवेण्डर, और क्रीम, और रूज, और लिप-स्टिक, और कहाँ तक गिनाऊँ। सच कहता हूँ, कमला, तुम्हें रानी बना दूँगा, रानी!"

"इस समय भी मैं अपने को किसी रानी से कम नहीं समझती!"

"आज तुम समझती हो, उस समय सचमुच हो जाओगी।"

"अपने लिए क्या-क्या खरीदोगे?"

"अपने लिए? क्या बताऊँ? बस, तुम इतना समझ लो कि एक 'अप-टु-डेट' सभ्य पुरुष के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, वे सभी चीज़ें ढेरों खरीदूँगा।"

"लेकिन यह सब ठाट-बाट बना कर क्या होगा?"

"क्या होगा, कमला! क्या तुम नहीं जानतीं कि जिस आदमी के पास धन है और जो ठाट-बाट से रहता है, दुनिया में हर जगह उसकी आवभगत होती है?"

"जानती हूँ, लेकिन अपने से ज्यादा दूसरों का ख्याल रखना चाहिए!"

"यह मैं कब कहता हूँ कि दूसरों का ख्याल नहीं रखूँगा? जी खोल कर दान करूँगा। लेकिन मन्दिरों के महन्तों को दान नहीं दूँगा, उन लोगों को दूँगा, जिन्हें सचमुच दान की जरूरत है। अनाथालयों को दूँगा, स्कूलों को दूँगा, उन सारी संस्थाओं को दूँगा, जो देश और समाज की सेवा कर रही हैं। यह भी समझ लो, कमला, कि अन्त में एक दिन सब कुछ त्याग कर किसी जङ्गल में धूनी रमाऊँगा!"

"जब तुम अपने हौसलों की बात करने लगते हो, तो मुझे बहुत अच्छे लगते हो!"

"किसी समय बुरा भी लगता हूँ?"

"नहीं।"

"तुम भूलती हो। क्या उस समय मैं बुरा नहीं लगता, जब मुझे क्रोध आ जाता है?"

"बुरे तो तुम उस समय भी नहीं लगते, लेकिन मैं डर जाती हूँ।"

ललित हँसने लगा। खाँसी आ गयी। तुरन्त झुक कर कमला ने पीकदान बढ़ाया।

"कहती हूँ कि ज्यादा बात न करो, लेकिन तुम तो मानते ही नहीं!"

"आज मेरी तबीयत बहुत हलकी है," दम ले कर ललित ने कहा—"बात करने में बड़ा मज़ा आ रहा है।"

"लेकिन, ज्यादा बात करने से तकलीफ बढ़ जाने का डर भी तो है?"

"तुम फ़िज़ूल डर रही हो, कमला! अब मैं बहुत जल्द अच्छा हो जाऊँगा।"

"ईश्वर करे, वह दिन जल्द आये!"

"कमला, जानती हो, आज-कल संसार के अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक मृत्यु को पराजित करने में लगे हुए हैं!"

"वह कैसे?"

"मुर्दों को जिन्दा करने के और जीवन की अवधि बढ़ाने के अनेक प्रयोग हो रहे हैं।"

"तब क्या मनुष्य एक दिन ईश्वर से उसके सारे अधिकार छीन लेगा?"

"ईश्वर तो ईश्वर ही रहेगा। लेकिन गीता में भगवान् कृष्ण ने जो कुछ कहा है, उससे तो यही जान पड़ता है कि मनुष्य को सारी नहीं तो अपनी अधिकांश जिम्मेदारियाँ दे देने में ईश्वर को कोई आपत्ति न होगी! दे तो शायद वह पहले ही चुके हैं, किन्तु बहुत थोड़े मनुष्यों ने उन अधिकारों से लाभ उठाना सीखा है।"

"गीता में कितने सुन्दर हैं भगवान् के वचन! जान पड़ता है, मानो अमृत की एक नदी गम्भीर गति से बह रही है!"

"और मज़ा यह है कि उसमें कितना भी स्नान करो, जी न भरेगा! जब खोजोगे, नयी चीज़ पाओगे!"

ज़िन्दगी बढ़ाने की कोई दवा बनी है?"

"दवायें तो बहुत-सी बनी हैं, जिनके विज्ञापन पत्रों में निकला करते हैं, लेकिन अभी तक कोई ऐसी दवा नहीं बनी, जिसे बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने लाभदायक माना हो।"

"अगर कोई दवा बन जाय, तो मँगा लेना।"

"ज़िन्दगी बढ़ा कर क्या होगा?"

"जो संसार का उपकार करना चाहता है, उसे अपनी ज़िन्दगी ज़रूर बढ़ानी चाहिये।"

"यह तो ठीक ही है। लेकिन मुझे किसी दवा की ज़रूरत न पड़ेगी। मैं तो योगाभ्यास करूँगा।"

"योगाभ्यास से क्या ज़िन्दगी बढ़ जाती है?"

"हाँ, योगी जब तक चाहता है, जीता रहता है; और जब चाहता है, प्राण त्याग देता है।"

"तब तो योगाभ्यास ज़रूर करना। मुझे भी सिखलाना।"

"ज़रूर सिखलाऊँगा। तुम्हारे बग़ैर तो शायद जंगल में भी मैं न रह सकूँगा।"

"थोड़ा-सा दूध पियोगे?"

"ले आओ।"

कमला चारपाई से उतरी।

(३)

दूसरे दिन एकाएक रोग बहुत बढ़ गया। बुख़ार बढ़ गया। खाँसी बढ़ गयी। रह-रह कर बेहोशी आने लगी।

कमला को अलग ले जा कर डाक्टर ने कहा—"इनकी हालत बहुत नाज़ुक है। बड़ी सावधानी रखने की ज़रूरत है। ज्यादा हिलने-डोलने न पायें, ज्यादा बातें न करने पायें। अगर अगले चौबीस घण्टे पार कर ले गये, तो शर्तिया चंगे हो जायेंगे।"

तीव्र वेग से उठी हुई मनोवेदना से लड़ती हुई, निश्चल खड़ी रह गयी वह।

इंजेक्शन दे कर डाक्टर चला गया। रोग-शय्या पर बैठ कर, पति

"मुझे तो तुम इस समय यहाँ नहीं बुलाते, लेकिन मैं आ जाती हूँ।"

अखिल हँसने लगा। खाँसी आ गयी। तुरन्त झुक कर कमला ने पीकदान उठाया।

"कहती हूँ कि ज्यादा बात न करो, लेकिन तुम तो मानते ही नहीं!"

"आज मेरी तबीयत बहुत हल्की है," दम ले कर अखिल ने कहा—"बात करने में बड़ा मज़ा आ रहा है।"

"लेकिन, ज्यादा बात करने से तकलीफ़ बढ़ जाने का डर भी तो है?"

"तुम फ़िजूल डर रही हो, कमला! अब मैं बहुत जल्द अच्छा हो जाऊँगा।"

"ईश्वर करे, वह दिन जल्द आवे!"

"कमला, जानती हो, आज-कल संसार के अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक मृत्यु को पराजित करने में लगे हुए हैं?"

"वह कैसे?"

"मुर्दों को जिन्दा करने के और जीवन की अवधि बढ़ाने के अनेक प्रयोग हो रहे हैं।"

"तब क्या मनुष्य एक दिन ईश्वर से उसके सारे अधिकार छीन लेगा?"

"ईश्वर तो ईश्वर ही रहेगा। लेकिन गीता में भगवान् कृष्ण ने जो [illegible] अधिकारों से काम उठाना सीखा है!"

"गीता में कितने सुन्दर हैं भगवान् के वचन! जान पड़ता है, मानो अमृत की एक नदी गम्भीर गति से बह रही है!"

"और मज़ा यह है कि उसमें कितना भी स्नान करो, जी न भरेगा! जब खोजोगे, नयी चीज़ पाओगे!"

ज़िन्दगी बढ़ाने की कोई दवा बनी है?"

"दवायें तो बहुत-सी बनी हैं, जिनके विज्ञापन पत्रों में निकला करते हैं, लेकिन अभी तक कोई ऐसी दवा नहीं बनी, जिसे बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने लाभदायक माना हो।"

"अगर कोई दवा बन जाय, तो मँगा लेना।"

"ज़िन्दगी बढ़ा कर क्या होगा?"

"जो संसार का उपकार करना चाहता है, उसे अपनी ज़िन्दगी ज़रूर बढ़ानी चाहिये।"

"यह तो ठीक ही है। लेकिन मुझे किसी दवा की ज़रूरत न पड़ेगी। मैं तो योगाभ्यास करूँगा।"

"योगाभ्यास से क्या ज़िन्दगी बढ़ जाती है?"

"हाँ, योगी जब तक चाहता है, जीता रहता है; और जब चाहता है, प्राण त्याग देता है।"

"तब तो योगाभ्यास ज़रूर करना। मुझे भी सिखलाना।"

"ज़रूर सिखलाऊँगा। तुम्हारे बगैर तो शायद जंगल में भी मैं न रह सकूँगा।"

"थोड़ा-सा दूध पियोगे?"

"ले आओ।"

कमला चारपाई से उतरी।

(३)

दूसरे दिन एकाएक रोग बहुत बढ़ गया। बुखार बढ़ गया। खाँसी बढ़ गयी। रह-रह कर बेहोशी आने लगी।

कमला को अलग ले जा कर डाक्टर ने कहा—"इनकी हालत बहुत नाज़ुक है। बड़ी सावधानी रखने की ज़रूरत है। ज़्यादा हिलने-डोलने न पायें, ज़्यादा बातें न करने पायें। अगर अगले चौबीस घण्टे पार कर ले गये, तो शर्तिया चंगे हो जायेंगे।"

तीव्र वेग से उठी हुई मनोवेदना से लड़ती हुई, निश्चल खड़ी रह गयी वह।

इन्जेक्शन दे कर डाक्टर चला गया। रोग-शय्या पर बैठ कर, पति

का पैर गोद में ले कर वह पैरे देने लगी। 'अब ये क्या न रहेंगे! इनके बिना संसार कैसा लगेगा! संसार में अब क्या रहा जा सकेगा? नहीं, नहीं! किन्तु अभी निराश होने की ज़रूरत नहीं। ख़ुद भी तो कहते थे कि अच्छे हो जाने की पूरी आशा है।'

ललित अचेत पड़ा था। थोड़ी देर कराह कर उसने आँखें खोलीं। तुरन्त चारपाई से उठ कर, सिरहाने आ कर, झुक कर उसने चिन्तित स्वर में पूछा—"कैसा जी है?"

"ज़रा...पानी...दो।"

चाँदी के गिलास से पानी ले कर, सहारा दे कर उसने उसे उठाया। उठ कर, दो घूँट पानी पी कर, वह फिर लेट गया। खाँसी आ गयी। खाँसते खाँसते उसका सारा शरीर झकझोर उठा। खाँसी किसी तरह रुकी, तो उसने दवा पिलायी। दवा पीकर, उसने आँखें बन्द कर लीं।

"कमला!"

"हाँ।"

"भरसक लड़ रहा हूँ, लेकिन कह नहीं सकता कि जीतूँगा! जब तक ज़रा भी आशा रहे, तुम धीरज न खोना।"

कमला अपने को रोक न सकी, फूट-फूट कर रोने लगी।

"अरे! तुम तो रो रही हो! चुप रहो - कमला...! मैं यह... बरदाश्त नहीं कर सकता!"

उसे चुप कराने के लिए कुहनियाँ टेक कर वह कुछ उठा, लेकिन गिर पड़ा। फिर वह अचेत हो गया।

रात आ गयी। रोग घटा नहीं। कई डाक्टर आये। दवायें बदली गयीं। इन्जेक्शन दिया गया। डाक्टर चले गये।

आधी रात बीत चुकी थी। ललित अचेत पड़ा था। पत्थर की मूर्ति बनी हुई कमला सेवा में लगी थी। सहसा ललित हिचकियाँ लेने

लगा। शरीर ऐंठने लगा। दाँत बैठ गये। कमला दवा लेकर दौड़ी, लेकिन पिला न सकी। तब दवा एक ओर फेंक कर, चीख कर, पति के पैरों से लिपट कर, वह फफक-फफक कर रोने लगी।

सहसा वह चारपाई से उतरी और एक आलमारी के समीप गयी। एक शीशी उठा कर, कार्क खोल कर, वह उस में भरी हुई ज़हरीली दवा पी गयी। सिर चकराया। लड़खड़ा कर वह फ़र्श पर गिरी। थोड़ी देर तक ऐंठ कर, शरीर निर्जीव हो गया।

मृत्यु की सीमा तक पहुँच कर, ललित फिर लौटा। शरीर की ऐंठन बन्द हो गयी। हिचकियाँ बन्द हो गयीं। क्षीण स्वर में उसने पुकारा—"कमला!"

फिर जवाब न मिला। तब, आँखें खोल कर, वह इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। उसने देखा, दाहिने हाथ में खाली शीशी पकड़े हुये कमला फ़र्श पर पड़ी है।

"कमला! कमला!"

ध्यान से देख कर, सब कुछ समझ कर, उछल कर, वह चारपाई से उतरा। लड़खड़ा कर, वह कमला के शव पर गिरा, और लिपट गया। बुझने हुये दीपक के समान जीवन-शक्ति फड़फड़ा कर समाप्त हो गयी। उसने भी दम तोड़ दिया।

एक स्त्री की डायरी

अपनी दुःख-भरी कहानी आज लिख रही हूँ। क्यों? नारी-सुलभ, लज्जाशील हृदय कहता है, न लिख। पश्चात्ताप-द्रवित मस्तिष्क प्रेरित करता है, अवश्य लिख डाल। मूर्ख हृदय! तेरे ही कारण तो मेरी कहानी दुःखान्त है। तेरे बहकावे में न आती, तो मेरी जीवन-गाथा आज कुछ और ही होती। कल तक तुझ से प्रेम करती आई हूँ। बुद्धिमान मस्तिष्क! कल तक तेरी अवहेलना करती आई हूँ; किन्तु आज, विश्वास कर, तेरे सामने भक्ति भाव से नत-मस्तक हूँ।

जिस विधाता ने मुझे हिन्दू-समाज में जन्म दिया, उसने मुझे उसकी पतित पावन मर्यादा पालन करने की क्षमता क्यों नहीं दी? सीता, सुलोचना, सावित्री ये सभी देवियाँ भी तो, मेरी ही तरह, हाड़-मांस की पुतलियाँ थीं? फिर, जो उनके लिये सम्भव था, मेरे लिये असम्भव क्यों हो गया? दुर्बलता! उधर खड़ी हँस रही है? हँस ले, जी भर के हँस ले! तेरे हास में उपहास है, प्रलोभन भी। आज किसी तरह तेरे पंजे से मुक्त हो कर, तेरे प्रलोभन में न फँसने का प्रण कर चुकी हूँ। हँस, जी भर कर हँस!

मायावी रूप! तेरा मादक उल्लास, तेरी मोहन-शक्ति! एक बार तेरा दर्शन कर, सँभल कर पैरों पर खड़ा रहना अत्यन्त कठिन है। मेरे अबोध शैशव ने माँ के कमरे में जब पहले-पहल तुझे दर्पण में देखा था, तो तुरन्त वशीकरण मन्त्र पढ़ कर, मोहिनी दृष्टि से जादू चला कर, कितने समय तक आत्म-विस्मृति के इन्द्रजाल में तूने उसे बन्दी रक्खा था! शायद आध-घंटा, शायद घंटा भर। आत्म-विस्मृति की दशा तब भङ्ग हुई थी जब कमरे में आई हुई माँ की आवाज़ कान में पड़ी थी। शैशव तेरा बन्दी हो गया। यौवन तेरे पीछे पागल! तेरे ही लिये मैं अब तक जीवित रही। मैं कैसे धोखे में थी। जितने बलिदान मैंने तेरे लिये किये हैं, उतने यदि भगवान् के लिये करती, तो, मुझे विश्वास है, वह मुझे अवश्य मिल जाते! किन्तु यह तो आज ज्ञात हुआ कि तू देवता के रूप में दानव था! दुर्भाग्य!

वह दिन, वह मधुर कटु दिवस ! अब मानती हूँ । वह गरल ले कर आया था, किन्तु तब तो उसमें सुधा के स्वाद का अनुमान हुआ था ! उसी दिन कमलाकान्त आया था । दूर के रिश्ते से वह भाभी का भाई लगता था । लम्बे क़द का, भरे बदन का, वह स्वरूपवान जवान था । आते ही उसने मुझे जिस दृष्टि से देखा था, उसे लाख कोशिश करने पर भी आज तक न भूल सकी । उसे देखते ही मेरे बदन में बिजली-सी दौड़ गई । अपनी उस समय की दशा का वर्णन करना मेरे लिये कठिन है । दालान में पड़ी हुई चारपाई पर बैठ कर, वह भाभी से बातें करने लगा । भाभी के निकट मूर्तिवत् बैठ कर, मैं उनकी बातें सुनने लगी । रह-रह कर वह मेरी ओर देखता, मैं उसकी ओर । बड़ी देर के बाद जब वह बाहर चला गया, तो उठ कर मैं ऊपर अपने कमरे में गई । दीवार पर लगे हुये शीशे के सामने खड़ी हो कर, मैं अपने सौंदर्य तथा यौवन की छवि अवलोकन करने लगी । सहसा उसकी छाया-मूर्ति आँखों के सामने आ कर खड़ी हो गई । एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, बिस्तर पर लेट कर, विकट अशान्ति की वेदना सहती हुई, मैं करवटें बदलने लगी । दिन भर मुझे चैन न मिला, रात भर नींद नहीं आई । अशान्ति प्रति क्षण बढ़ती गई । उषा की रश्मि लालिमा जब आकाश-मण्डल में फैल गई, और पक्षियों का स्वागत-गान आरम्भ हो गया, तो किसी तरह निद्रा-देवी ने कृपा की ।

सबेरे जब मेरी आँखें खुलीं, तो दिन चढ़ आया था । सामने की खिड़की से अन्दर आकर एक प्रकाश-स्तम्भ फ़र्श पर लेटा हुआ था । आँखों में कड़वाहट थी, पलकें भारी थीं । एक मिनट तक मैं दीवार की ओर ताकती रही, फिर आँखें बन्द कर लीं ।

"बीबी ! बीबी !" भाभी ने नीचे से आवाज़ लगाई ।

"जी हाँ !"

"उठो, दिन चढ़ आया । कब तक सोती रहोगी ?"

"आती हूँ, भाभी ।"

मैं फिर दीवार की ओर ताकने लगी । सहसा कमलाकान्त की आवाज़ सुनाई दी । वह नीचे भाभी से बातें कर रहा था । तुरन्त उठ कर नीचे जाने की उत्कट प्रेरणा होने लगी, किन्तु मैं उठ न सकी । करवट बदल कर मैं फ़र्श की ओर ताकने लगी । जिस शक्ति ने मुझे उस समय रोका था, यदि मैं उससे बराबर काम ले सकती...! किन्तु ।

दिन का तीसरा पहर था। सज-धज कर मैं शीशे के सामने खड़ी हुई, सौंदर्य-सुधा पान कर रही थी। सहसा कमरे में किसी के प्रवेश करने की आहट मिली। मैंने मुड़ कर दरवाज़े की ओर देखा, कामाकान्त मूर्तिवत् खड़ा हुआ मेरी ओर एकटक देख रहा था। मैंने आँखें नीची कर लीं, किन्तु मेरे ओठों पर मुस्कान स्पष्ट हो गई। मेरा हृदय वेग से धड़कने लगा, सँभल कर खड़ी रहना असम्भव हो गया। वह मेरी ओर बढ़ने लगा। किसी ने मन में कहा, 'भाग!' किन्तु, मैं भाग न सकी, मूर्तिवत् खड़ी रह गई। समीप आ कर, रुक कर, उसने कहा—"शकुन्तला!"

उन्माद मेरी रग-रग में भयंकर वेग से दौड़ने लगा। फड़फड़ाती हुई आँखों से उसको भर देख कर, मैं फिर फ़र्श की ओर ताकने लगी।

"तुम कितनी सुन्दर हो शकुन्तला!"

मेरे रोम-रोम से ज्वाला निकलने लगी। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। किसी ने फिर मन में कहा, 'भाग!' मैं हाथ छुड़ाने की कोशिश करने लगी। उसने मुझे कर-पाश में बाँध लिया। मैं निश्चेष्ट हो गई। आत्म-समर्पण हो गया। उस समय का वह उत्तप्त गरल-मिश्रित सुख! आज उससे घृणा करती हूँ, किन्तु उसे भूल नहीं सकती!

दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेमाभिनय कई सप्ताह तक चलता रहा। फिर एकाएक दुष्यन्त को विदा हो जाना पड़ा। कारण, भाभी को हम लोगों के प्रेम की बात मालूम हो गई। हम दोनों को फटकार सुननी पड़ी थी। लज्जा और ग्लानि की आग में शकुन्तला निरंतर जलने लगी। किन्तु दुष्यन्त की सूरत हर घड़ी आँखों में बसी रहती!

× × ×

छः मास बाद मेरा विवाह हो गया, किन्तु उसके साथ नहीं, जो मेरे मन में बस गया था। जो होना चाहिये, वह नहीं हो पाता, जो न होना चाहिये, वह अवश्य हो जाता है! यही विडंबना तो समाज की जड़ काट रही है! युगों की घोर निद्रा से जाग कर, समाज आज अँगड़ाइयाँ लेता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु अकर्मण्यता के इन्द्र-जाल से शीघ्र मुक्त हो जाना सहज नहीं। कुएँ में गिरा हुआ मनुष्य, विकट चेष्टा करने पर भी, क्या शीघ्र बाहर निकल सकता है?

जब मैं ससुराल गई, और पतिदेव से साक्षात्कार हुआ, तो मेरी दशा

उस बालक की-सी हो गई, जो पहले-पहल अध्यापक के सामने गया हो! मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ, भय-मिश्रित श्रद्धा भी। किन्तु प्रणय क्या कभी निमंत्रण देने से आया है? पतिदेव मुझसे १२ वर्ष बड़े तो अवश्य थे, किन्तु वह स्वस्थ थे और कुरूप न थे। उनके समीप जा कर जान पड़ता था, मानो किसी शान्त, गम्भीर, अटल पर्वत के सामने खड़ी हूँ! वह धार्मिक व्यक्ति थे और विद्या-प्रेमी। दिन भर वह किसी दफ़्तर में काम करते, और साँझ सवेरे अध्ययन तथा आराधना में रत रहते। उनकी स्वाभाविक गम्भीरता, विवेकशीलता तथा सरलता के सम्मुख मैं भक्तिभाव से नत मस्तक हुई; किन्तु हज़ार बार कोशिश करने पर भी उन्हें प्यार न कर सकी। प्यार करने से प्यार मिल सकता है। किन्तु जहाँ गाम्भीर्य का एकछत्र राज्य हो, वहाँ भावुकता पनप नहीं सकती! फिर मेरा हृदय भी तो अपना न था! कैसी विषम परिस्थिति थी!

केवल उत्तम वस्त्र, उत्तम भोजन पाने और अन्य किसी स्त्री के शासन से मुक्त होने ही में सुख होता, तो ससुराल में मैं अवश्य सुखी रहती। पतिदेव के अतिरिक्त वहाँ और कोई न था, और वह यथेष्ट वेतन पाते थे। इसलिये शरीर के पोषण के लिये वहाँ सब-कुछ था। किन्तु मनुष्य के हाड़-मांस के शरीर में मांस का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जिसे हृदय कहते हैं; और हृदय जब मस्तिष्क को पराजित कर लेता है, तो उसकी शक्ति अजेय-सी हो जाती है! हृदय प्रणय माँगता है। प्रणय की मादक क्रीड़ा ही में उसे सुख की अनुभूति प्राप्त होती है—और वह क्रीड़ा जिसके सहारे उन्माद के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर, क्षुब्ध हो कर वह गिर पड़ता है! संसार के काम-धंधे से फ़ुरसत पा कर रात में पतिदेव जब मेरे निकट अपना नीरस शुष्क प्रणय ले कर आते, तो उस समय हृदय की सम्पूर्ण शक्ति से मैं उनसे घृणा करती। उनके उस व्यवहार को प्रणय कहने में आज भी मुझे आपत्ति है। साँझ-सवेरे शरीर को घर के काम-धंधे में लगाए रख कर, मैं हृदय को बहलाये रहती; किन्तु दोपहर की अलस नीरवता में जब बूढ़ा महरी भी अपने घर चली जाती और रात्रि की भयङ्कर निस्तब्धता में जब पतिदेव खर्राटे लेने लगते, हृदय आपे से बाहर हो कर हाहाकार करता। उस समय वियोगिनी शकुन्तला समस्त देवियों तथा देवताओं के समक्ष रो-रो कर दुष्यन्त को पाने की कामना करती!

मनुष्य के ललाट पर विधि-देव जो कुछ भला-बुरा लिख देते हैं, उसे

कदाचित् बड़े बड़े ज्ञानी भी मिटा नहीं सकते ! फिर मैं तो एक साधारण, बुद्धिहीना नारी हूँ । जो होना था, हो कर रहा। मेरे उन्माद-ग्रसित हृदय की कामना पूर्ण हुई । आज सोचती हूँ, वह कैसी अशुभ घड़ी थी, किन्तु उस समय तो मेरा हर्ष आपे में न रह सका । दोपहर का समय था। दालान में बैठी हुई मैं महरी से बातें कर रही थी । सहसा किसी ने बाहर का दरवाज़ा खटखटाया ।

"देखो तो, सीतल की माँ, कौन है ?"

"अच्छा, बहूजी । इसी वक्त कौन आ गया !" वृद्धा उठ कर दरवाज़े की ओर चली ।

मेरा मन कौतूहल से भर गया । अंधकारपूर्ण हृदय में आशा की एक क्षीण किरण झिलमिलाने लगी । कहीं वही तो नहीं है ? पाँच मिनट के बाद महरी ने लौट कर कहा—"एक बाबू आये हैं, बहूजी । आपके कोई नातेदार हैं ।"

शायद वही है ! क्षण भर निस्तब्ध रह कर मैंने कहा—"जा कर पूछो, सीतल की माँ, नाम क्या है ?"

"अच्छा, बहूजी ।" महरी फिर बाहर चली गई ।

हाँ, वही है, अवश्य वही है ! अब महरी, वापस आ कर बोली—"अपना नाम कमलाकान्त बताते हैं ।"

वह आ गया ! इस अनुभूति के रस सरोवर में मेरा हृदय डूब गया । आ गया, वह आ गया ! सहसा भीतर किसी ने कहा, 'कहला दे, चला जाय ।' इस आवाज़ के आदेशानुसार उस समय चलती, तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता ? किन्तु उस समय तो शकुन्तला के द्वार पर एक अतिथि आया था, और वह अतिथि कोई और नहीं दुष्यन्त था ! दुष्यन्त का निरादर शकुन्तला कैसे करती ? मैंने व्यग्रता से कहा—"उन्हें अन्दर बुला लाओ, सीतल की माँ ।"

"अच्छा, बहूजी । बड़े भले मनई जान पड़ते हैं ।"

विविध भावनाओं से आन्दोलित हो कर, मेरा हृदय वेग से धड़कने लगा । साहबी ठाट-बाट से सज्जित, पान चबाता हुआ, हाथ में चमड़े का बक्स लिये हुए, वह सामने आया । मुस्करा कर, हैट उतार कर, सिर झुका कर, उसने नमस्कार किया । मुस्करा कर, हाथ जोड़ कर, मैंने नमस्कार का उत्तर दिया ।

"आओ !"

दालान में आ कर, मेरे सामने खड़े हो कर उसने कहा—"अच्छी तो हो, शकुन्तला ?"

"हाँ ! बैठो ।"—चारपाई की ओर संकेत करके मैंने कहा ।

फ़र्श पर एक ओर बक्स रख कर, वह चारपाई पर बैठ गया, और मेरी ओर एकटक देखने लगा ।/एक बार उसको ओर देख कर, सिर झुका कर, मैं कई क्षणों तक खड़ी रही, फिर सामने के कमरे में चली गई । एक संदूक खोल कर, एक रुपया निकाल कर मैंने पुकारा—"सीतल की माँ !"

"हाँ, बहूजी !" रसोई-घर से महरी ने उत्तर दिया ।

"यहाँ आओ, सीतल की माँ ।"

"आती हूँ, बहूजी ।"

दो मिनट के बाद सीतल की माँ कमरे में आई । उसे रुपया दे कर मैंने कहा—"बाज़ार जा कर ताज़ी पूरी, मिठाई और नमकीन ले आओ, सीतल की माँ ।"

"कित्ते-कित्ते का लाऊँगी, बहूजी ?"

"एक रुपये में सब ले लेना । आध सेर पूरी ले लेना, डेढ़ पाव मिठाई, बाक़ी पैसों की नमकीन । लेकिन बिलकुल ताज़ी चीज़ें लाना, सीतल की माँ ।"

"बहुत अच्छा, बहूजी ।" महरी चली गई ।

कमरे से बाहर निकल कर, मैंने अपने दुष्यन्त से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?"

"घर से ।"

"कह कर आये हो ?"

"नहीं !"

"क्यों ?"

कोई उत्तर न दे कर, सिर झुका कर, वह फ़र्श की ओर ताकने लगा ।

"यहाँ क्यों आये हो ?...बोलो !"

किन्तु वह निस्तब्ध, मूर्तिवत् बैठा रहा । उसकी ओर करुणापूर्ण आँखों से देख कर मैं फ़र्श पर बैठ गई ।

खाने का सामान ले कर महरी आ गई । कपड़े बदल कर, हाथ-मुँह धो कर, कमलाकान्त ने भोजन किया ।-नीचे के एक कमरे में मैंने

उसके लिये बिस्तर लगवा दिया। पान खा कर, सिगरेट जला कर, वह आराम करने गया। तब महरी ने कहा—"अब मैं जाऊँ न, बहूजी?"

"ठहरो न, शीतल की माँ। कहाँ जाओगी?"

"घर जाऊँगी। ज़रा काम है।"

"अच्छा.. तो.. जाओ।"

महरी चली गई। बाहर का दरवाज़ा बन्द करके मैं अपने कमरे में गई, दरवाज़े की साँकल चढ़ाई, और पलंग पर लेट कर, विचित्र मानसिक अशान्ति की दशा में, करवटें बदलने लगी। हृदय का स्पन्दन द्रुत गति से बढ़ने लगा। उसकी गति तीव्र होने लगी।

सहसा किसी ने कमरे के दरवाज़े की साँकल खटखटाई। आपे से बाहर होते हुए हृदय को किसी तरह रोक कर, मैं चुपचाप पड़ी रही। साँकल फिर खटखटाई गई।

"कौन है?"

"मैं हूँ, शकुन्तला। ज़रा दरवाज़ा खोलो।"

"जा कर आराम करो। क्यों तंग करते हो?"

"बस एक बात सुन लो, शकुन्तला। फिर मैं चला जाऊँगा।"

"वहीं से कहो।"

"तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, शकुन्तला, दरवाज़ा खोल दो।"

अब मुझे उठना पड़ा। अन्तस्तल में किसी ने चेतावनी दी, 'मत खोल, अभागिनी!' किन्तु सामने पड़ा हुआ ख़ज़ाना देख कर, लोभी मनुष्य कहीं रोकने से रुक सकता है! असम्भव! दुष्यन्त की पुकार शकुन्तला के कानों में पड़े और वह विकल न हो! असम्भव! मैंने दरवाज़ा खोल दिया। उसने कमरे में प्रवेश किया। दीवार के सहारे खड़े हो कर, वह मेरी ओर एकटक देखने लगा। उसके चेहरे की ओर देखते हुये, मैंने कहा—तुमने मेरे सवाल का जवाब क्यों नहीं दिया?

"कौन सा सवाल?"

"यही कि मेरे घर क्यों आये हो?"

"क्यों आया हूँ! शकुन्तला, विश्वास करो, अगर मैं न आता, तो पागल हो जाता!"

"न आते, तो पागल हो जाते?"

"हाँ, शकुन्तला, ज़रूर पागल हो जाता!"

"तो यह कहो कि अपनी रक्षा के निमित्त मेरा सर्वनाश करने आये हो!"

"तुम्हारा सर्वनाश करने आया हूँ! असम्भव! तुम्हारा सर्वनाश करने की कामना मैं स्वप्न में भी नहीं कर सकता।"

"तुम सत्य कह रहे हो या असत्य यह मैं नहीं जानती। किन्तु, यह तो जानते ही होगे, नहीं जानते तो सुन लो, पुरुष के हजार अव-गुणों को समाज हँस कर उड़ा देता है; लेकिन स्त्री अगर एक बार पथ-भ्रष्ट हो गई, तो उसे रसातल में ही शरण मिल सकती है!"

अब वह खड़ा न रह सका, चारपाई पर बैठ गया, और कुहनियों को घुटनों पर टेक कर, हाथों से सिर पकड़ कर फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"तुम मर्द हो, बाबू साहब, स्त्रियों की मर्म-वेदना और असहायता की बात क्यों समझोगे!"

धीरे-धीरे सिर उठा कर, उसने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में आँसू छलक रहे थे। एक क्षण वह मेरी ओर एकटक देखता रहा। उसकी आँखों से आँसू की धारायें बहने लगीं। मेरा हृदय आपे में न रह सका। तुरन्त उसके समीप जा कर, मैं आँचल से उसके आँसू पोंछने लगी। मेरी आँखें भी आँसू बहाने लगीं। मुस्करा कर, उसने मुझे कर-पाश में बाँध लिया। उसकी यह चाह मुस्कान मेरे स्मृति-पटल पर लोहे की नोकीली सलाई से अंकित की गई थी! आज उसे देखती हूँ, तो जी जल उठता है, किन्तु उस समय तो एक ठोकर लगा कर उसने मेरे सब्र का बाँध तोड़ दिया था!

दुष्यन्त और शकुन्तला का यह प्रेमाभिनय फिर आरम्भ हो गया, और कई दिनों तक जारी रहा। फिर एक दिन एकाएक भंडा फूट गया। उस दिन पतिदेव, कुछ अस्वस्थ होने के कारण, दफ़्तर नहीं गये थे। वह ऊपर शयनागार में आराम कर रहे थे। मैं नीचे कमलाकान्त के कमरे में थी। वह मेरे हाथ पकड़े हुए था। हम दोनों घुल-घुल कर बातें कर रहे थे। सहसा कमरे में किसी ने प्रवेश किया और ठिठक कर खड़ा हो गया। चौंक कर, हाथ छुड़ा कर, मुख मोड़ कर, मैंने देखा, उधर दरवाज़े के पास खड़े हुये पतिदेव हम दोनों की ओर विचित्र दृष्टि से देख रहे थे। उनकी उस दृष्टि में कठोरता न थी, क्रोध न था, घृणा न थी, कदाचित् दया थी! मैंने आँखें नीची कर लीं। मेरा हृदय लज्जा

तथा भय से भर गया, शरीर पसीने से तर हो गया। उस समय यदि धरती फट जाती, तो मैं उसमें सहर्ष समा जाती! धीरे धीरे वे गुस्से कमरे के बाहर चले गये।

कई क्षण हम दोनों निस्तब्ध, मूर्तिवत् बैठे रह गये। फिर किसी तरह होश सँभाल कर मैंने कहा—"ग़ज़ब हो गया!"

"यह तो एक दिन होने ही को था!"

"अब क्या होगा?"

"होगा क्या, बन्धन के नरक से निकल कर मुक्ति के स्वर्ग की ओर चलना होगा!"

"नहीं, यह न होगा!"

"क्यों?"

"नहीं जानती क्यों!"

"सोच कर देखो, शकुन्तला, हम लोगों के लिये और कोई मार्ग भी तो नहीं है!"

मैंने कोई उत्तर न दिया, मन मारे हुये, चित्र लिखित सी, फ़र्श की ओर ताकती हुई निस्तब्ध बैठी रह गई। वह भी ख़ामोश हो गया। हम दोनों कितनी देर तक इस तरह बैठे रहे, नहीं कह सकती। एकाएक कोई चीज़ मेरे सामने गिरी। चौंक कर मैंने देखा, एक लिफ़ाफ़ा था। झिझक कर, रुक कर, मैंने कमरे के बाहर दृष्टि डाली, पतिदेव घर से बाहर चले जा रहे थे। झुक कर, लिफ़ाफ़ा उठा कर मैंने उसे खोला। उसमें पतिदेव का लिखा हुआ पत्र था। पत्र में लिखा था—"जो कुछ इतने दिनों से जानना चाहता था, आज ज्ञात हुआ। मेरी आशंका सत्य निकली! मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपासक हूँ। यदि तुम पहले बता देतीं, तो मैं तुम्हें पहले ही मुक्त कर देता। किन्तु अपना भेद छिपाये रहना तुम्हारे लिये स्वाभाविक ही था। ख़ैर, अब मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। तुम जहाँ चाहो, जा सकती हो! रुपये, गहने, कपड़े, जो कुछ चाहो, अपने साथ ले जाओ। मैं तुम्हें सहर्ष आज्ञा देता हूँ। मैं घर से बाहर चला जा रहा हूँ और आज न लौटूँगा। इतना समय तुम्हारे लिये काफ़ी है। हाँ, याद रखना, मेरा दरवाज़ा तुम्हारे लिये हमेशा खुला रहेगा!"

पत्र पढ़ कर मैंने उसे कमलाकान्त को दे दिया। उसे पढ़ते पढ़ते उसका चेहरा खिल उठा। मेरे उर-प्रदेश में भाँति भाँति की भावनायें

का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। उस पत्र का एक-एक शब्द मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट कर बर्छी की तरह चोटें करने लगा। यदि वह ताड़ना देते, तो कदाचित् मुझे इतनी पीड़ा न सहनी पड़ती!

"अब ?" पत्र मुझे लौटाते हुये उसने पूछा।

"इसी को सर्वनाश होना कहते हैं !"

"मुक्ति में असीम सुख है ! इससे तुम्हारा सर्वनाश कैसे होगा ?"

"तुम्हारे अन्दर नारी का हृदय होता, तो तुम समझ पाते ! किन्तु तुम तो मर्द हो, कैसे समझोगे !"

निरुत्तर हो कर, वह कई क्षण निस्तब्ध बैठा रहा। फिर उसने कहा—"जो कुछ हो, अब तो रास्ता आप ही साफ़ हो गया है। इसलिये इस स्वर्ण सुयोग से अवश्य लाभ उठाना चाहिये।"

"इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है !"

उसी दिन गोधूलि के समय मैं रुपये, गहने और थोड़े से कपड़े ले कर, घर छोड़ कर मैं अपने दुष्यन्त के साथ बाहर चली गई। खेल का यथेष्ट भाग हो चुका था, इसलिये उसका अन्त देखना भी आवश्यक ही था।

× × ×

दूसरे दिन हम दोनों कलकत्ता पहुँचे, और एक धर्मशाला में ठहर गये। एक सप्ताह बाद धर्मशाला छोड़ कर एक बड़े मकान में कुछ कमरे ले कर रहने लगे। दिन सैर-सपाटे में बीतने लगे, रातें रंगरेलियों में। एक मास में नकद समाप्त हो गया। अब गहने बेचे जाने लगे। मैंने कमलाकान्त को नौकरी करने की सलाह दी। नौकरी तलाश करने के बहाने वह दिन-दिन-भर ग़ायब रहने लगा।

एक दिन जब वह सन्ध्या समय घर लौटा, तो शराब में चूर था। यह देख कर, मुझे क्रोध आ गया। उसके समीप आ कर, मैंने रोषपूर्ण स्वर में कहा—"तुमने शराब क्यों पी ?"

"इससे तुम्हें क्या मतलब है ? जब जी चाहेगा, पीऊँगा !"

"यही दुर्गति करने के लिये मुझे यहाँ लाये हो ?"

"तू अपने मन से आई ! मैं तुझे ज़बरदस्ती नहीं लाया !"

"धोखा दे कर, फँसा कर, ऐसा व्यवहार करना, भले आदमी का काम नहीं है !"

"चुप रह हरामज़ादी, नहीं तो अभी जूते लगा कर सिर धड़ कर दूँगा।"

वहाँ से हट कर, रसोई घर में जा कर, आँचल में मुँह छिपा कर मैं फूट-फूट कर रोने लगी। उस समय उसके प्रति मेरे हृदय में पहले-पहल घृणा उत्पन्न हुई थी।

दो मास में ईयर रिंग छोड़ कर, मेरे सारे गहने बिक गये। कमलाकान्त हर समय शराब के नशे में बदमस्त रहने लगा। दिन भर तो वह गायब रहता ही था, एक दिन वह रात को भी नहीं लौटा। सारी रात असीम मर्म-वेदना सहती हुई, मैं करवटें बदलती रही। दूसरे दिन सबेरे जब वह आया, तो नशे में चूर था।

"रात भर कहाँ रहे?"

"एक जगह।"

'कहाँ?'

"नहीं बताऊँगा।"

"इतना जानने का भी मुझे अधिकार नहीं है?"

"नहीं, तुम्हें मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है।"

"शायद तुम्हारा मन कहीं और लग गया है?"

'लग गया है तो तुमसे क्या मतलब? जिससे ज ... , पूछा। मन लगा ले।"

"अच्छा, नौबत यहाँ तक पहुँच गई?"

'हाँ हाँ, यहाँ तक नौबत पहुँच गई! अब मैं तुमसे कोई सरोकार रखना नहीं चाहता।"

"हाँ, अब यही कहना तुम्हें शोभा देता है। अनाथ जो कुछ दिखाये, थोड़ा है।"

"ईयर रिंग उतार कर दे दे।"

"नहीं दूँगी। जब मुझसे कोई सरोकार रखना नहीं चाहते, तो ईयर रिंग माँगने का तुम्हें क्या अधिकार है।"

"अधिकार कैसे नहीं है! चुपचाप दे दे, हरामज़ादी, नहीं तो अभी सिर फोड़ दूँगा।"

मेरी आँखों से आँसू की धारायें बहने लगीं।

"उतार, हरामज़ादी, जल्दी उतार।"

ईयर-रिंग उतार कर मैंने उसके सामने फेंक दिये। उठ कर, ईयर-रिंग ले कर, वह बड़बड़ाता हुआ चला गया। दूसरे कमरे में जा कर, चटाई पर लेट कर, मैं फफक फफक कर रोने लगी। कमलाकान्त के प्रति मेरे हृदय में घृणा प्रतिक्षण बढ़ने लगी।

दिन को वह नहीं लौटा, रात को भी वह नहीं आया। मेरा भविष्य प्रगाढ़ अन्धकार के परदे की तरह मेरे सामने आ खड़ा हुआ। सहसा उस परदे पर अलौकिक ज्योति से जगमगाती हुई दृष्टिगोचर हुई एक मूर्त्ति, शान्त, गम्भीर, अविचल! वह मूर्त्ति पतिदेव की थी। उस समय मेरी आत्म-ग्लानि का पारावार न था। प्रताड़ित हृदय ने कहा, 'अभी आत्म-हत्या कर डाल!' मस्तिष्क ने सान्त्वना देते हुये कहा, 'अभी ठहर, शीघ्रता न कर, घर चल!' हृदय पराजित हो चुका था। मस्तिष्क के आदेशानुसार चलना ही उचित जान पड़ा।

किसी तरह सवेरा हुआ। नहा धो कर, मैं दो-एक चीज़ें ख़रीद लाई। मैंने २०) बचा रखे थे, इसलिये रुपयों की चिन्ता न थी। दोपहर के समय केवल एक धोती ले कर, स्टेशन की ओर चल पड़ी। किसी तरह स्टेशन पहुँच कर, टिकट ले कर, मैं घर की ओर आनेवाली गाड़ी पर सवार हो गई। तब मैंने संतोष की साँस ली।

× × ×.

दूसरे दिन सिर से पैर तक चद्दर ओढ़े हुए, मैं घर के द्वार पर पहुँची। दरवाज़ा खुला हुआ था। मैंने डरते-डरते अन्दर प्रवेश किया। आँगन में सीतल की माँ अँगीठी में कोयले सुलगा रही थी।

"सीतल की माँ!"

"अरे...बहू जी!"

"हाँ, सीतल की माँ! अपना काला मुँह तुम्हें दिखाने आई हूँ।"

सीतल की माँ की आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी आँखें भी अश्रु-वृष्टि करने लगीं। वह उठ कर, मेरे समीप आई, और मुझ से लिपट कर फफक-फफक कर रोने लगी। आवेग जब कम हुआ, तो उसने मुझे दालान में ले जा कर बैठाला। आँखें पोंछ कर, मैंने पूछा—"वह कहाँ हैं?"

"ऊपर... हैं, बहू जी। कई महीने से बहुत बीमार हैं!"

"बहुत बीमार हैं?"

भइया को कभी हँसते नहीं देखा। खाने-पीने का भी उनको ध्यान नहीं रहता था। धीरे-धीरे दशा बिगड़ती गई। अब तो हालत बहुत ख़राब है। भइया उठ कर खड़े हो जायँ, तो जानूँ!"

"ऐसी ख़राब दशा है! दवा किसकी होती है सीतल की माँ?"

"रोज़ एक डाक्टर आ कर देख जाता है, उन्हीं के यहाँ से दवाई आती है।"

"सेवा तुम्हीं कर रही हो, सीतल की माँ?"

"हाँ, बहू जी, और कौन करे? मैंने कहा था, एक नौकर रख लो, भइया, मगर भइया ने मंज़ूर नहीं किया, कहा, तुम्हारे सिवाय मैं और किसी को अपने पास न आने दूँगा!"

"रोग क्या है, सीतल की माँ?"

"यह तो मैं नहीं जानती, बहू जी, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ! बुख़ार हमेशा चढ़ा रहता है।"

"तब तो कोई बड़ा ख़राब रोग है, सीतल की माँ?"

"हाँ, बहू जी।"

"इस समय क्या वह सो रहे हैं?"

"नहीं, बहू जी, कोई किताब पढ़ रहे हैं।"

"वहाँ और कोई तो नहीं है?"

"नहीं, बहू जी। जाओगी क्या? हाँ, जाओ, देख आओ। तुम्हारी याद बराबर किया करते हैं!"

उठ कर, सीढ़ियों पर चढ़ कर, ऊपर पहुँच कर, उनके कमरे में प्रवेश कर, मैं उन्हें पश्चात्तापपूर्ण दृष्टि से देखने लगी। चमड़े से मढ़ी हुई हड्डियों की एक ठठरी चादर ओढ़ पलंग पर पड़ी थी! यही वह हैं, जिनका शरीर कैसा बलिष्ट था, सुगठित था!

"कौन है? सीतल की माँ?"

"नहीं, मैं.. हूँ!"

"कौन?"

पुस्तक के पृष्ठों से दृष्टि हटा कर, करवट बदल कर, वह मेरी ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

"तुम.. हो?"

"जा...हाँ!"

मेरी ओर देखते-देखते, उनकी गड्ढे में धुसी आँखों से आँसू बहने

सकी। पलङ्ग के समीप बैठ कर, उनके पैर पकड़ कर, मैं फूट-फूट कर रोने लगी।

"रोओ मत, शकुन्तला! मुझे...कष्ट होता है।"

"क्षमा...क्षमा!"

"जो-कुछ तुम ने किया...उसके लिए...मैं...तुम्हें...दोषी नहीं समझता!"

उनके चरण पकड़े हुए, मैं रोती रही।

"उठो...नहा-धो डालो। खाओ-पीयो; थकी-माँदी चली आ रही हो।"

किन्तु मैं उठ न सकी।

"सीतल की माँ! ओ सीतल की माँ!"

"आती हूँ, भइया!"

"मनुष्य का शरीर...गुणं-अवगुण का घर है। जब जो भाव प्रबल होता है, उसी के वशीभूत हो कर...मनुष्य कार्य करता है। मन को शान्त करो!"

सीतल की माँ ने कमरे में प्रवेश किया।

"क्या है, भइया!"

"इन्हें ले जा कर नहलाओ...खाना खिलाओ!"

"अच्छा, भइया। उठो बहूजी, चलो।"

तब उठ कर, मैं वृद्धा के साथ नीचे गई।

केवल दो दिन उनकी सेवा करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये ही कदाचित् मेरे जीवन के सर्वोत्तम दिवस थे! इसी अल्प समय में मेरा नारीत्व सार्थक हुआ!

आज सारे दिन वह अचेत पड़े रहे। डाक्टर आया, सुई लगा कर और फीस ले कर चला गया। गोधूलि के समय दो-तीन मिनट के लिये उन्हें होश आया था। उस समय मुझे पास बुला कर, मेरा हाथ पकड़

कर, उन्होंने कहा था—"शकुन्तला! अब...घर सँभालो! मैं...जाता हूँ! तुम से...मैं अत्यन्त...सन्तुष्ट हूँ। पानी!"

मैं तुरन्त पानी लाई और पिलाने लगी, किन्तु वह पी न सके, फिर बेहोश हो गये। एक घण्टे के बाद उनका देहान्त हो गया। मैं जी भर के रो-धो चुकी। अब रो कर क्या होगा?

उधर उनका शव पड़ा हुआ है। संसार में अब मेरा कौन है, मेरे लिये क्या है? कोई नहीं, कुछ नहीं! हाँ, केवल यंत्रणाएँ हैं! किन्तु यंत्रणाएँ सहने के लिये अब मैं तैयार नहीं हूँ! सामने चाँदी के गिलास में वह चीज़ घुली रक्खी है, जो मुझे मेरी यन्त्रणाओं से मुक्त कर देगी! अब मुझे उसे पी लेने दो!

पी चुकी। औषधि काम करने लगी है, ज़रा देर में काम समाप्त हो जायगा। संसार हाट का लेना देना समाप्त हो चुका। अब इह लोक से नाता टूटने को है। क्या ले कर यहाँ आई थी, यह नहीं कह सकती। किन्तु यहाँ से ले कर जा रही हूँ सुख और शान्ति! इससे अधिक मनुष्य किस वस्तु की कामना कर सकता है?

आकाश में तारे टूट रहे हैं। और मेरे शरीर के अन्दर मेरा दिल डूब रहा है, चक्कर आ रहे हैं। जीवन की बाग डोर हाथ से निकलती जा रही है। अन्धकार, निबिड़ अन्धकार मुझे निगलने के लिये दौड़ा आ रहा है! पतिदेव! पति ..देव!

हार

दो साल की सख़्त क़ैद भुगतने के बाद आज आबिद घर लौट रहा था। गाड़ी आने के घण्टों पहले से नगर-निवासियों के झुण्ड के झुण्ड [illegible]

[illegible]

हितैषी थे। सभी गर्व और अनिर्वचनीय आह्लाद से फूले न समाते थे। केवल एक इच्छा उस विराट् समूह को आन्दोलित कर रही थी, और वह थी आबिद का यथोचित सम्मान करने की इच्छा। ऐसे आत्म-त्यागी युवक का स्वागत करने में किसे गर्व न होगा, जिसने अपने सारे सुखों को देश के लिये तिलांजलि दे दिया हो?

गाड़ी आते ही जयकारों की मंगल-ध्वनि गूँजने लगी। आबिद मुस्कराता हुआ उतरा। पुष्प-वर्षा होने लगी। हार पहिनाये जाने लगे। जब हाथ मिलाने और हृदय-से-हृदय लगा कर भेंटने की लोकप्रिय क्रियाएँ समाप्त हो गईं, तो आबिद स्टेशन से बाहर लाया गया। फिर एक शानदार जुलूस शहर की ओर रवाना हुआ।

कई घण्टों के बाद जब आबिद घर पहुँचा और बाहर लोगों से मिल कर अन्दर गया, तो माँ ने कलेजे से लगा लिया, और माथा चूमा। अपने बिछुड़े हुए लाल को पा कर माँ को जितनी खुशी हुई, बयान नहीं हो सकती। अपने खोये हुए बछड़े को पा कर गाय को जितना हर्ष होता है, उससे कहीं ज्यादा हर्ष आबिद की माँ को था। बलाएँ लेती जाती थीं और जेल की बातें पूछती जाती थीं। इतने में एक सुन्दर नवयुवती आई और दरवाजे के समीप ठिठक गई। युवती के हाथ में खद्दर का एक सुन्दर हार था। युवती ने आबिद को देखा, आबिद ने युवती को। युवती का चेहरा चमकने लगा, आँखें स्वतः नीचे झुक गईं। युवती की ओर देख कर आबिद की माँ ने कहा—"आओ मेरी अमीना

आओ। इसमें फिर बात क्या है? बेटा आबिद, ये पुष्पजंग साहब की साहबज़ादी हैं। इन्हें सर्द-अख़लाक़ से पूरी हमदर्दी है।"

अमीना सकुचाती हुई आगे बढ़ी। आबिद के समीप पहुँच कर रुकी, और हार पहिना देने के लिए हाथों को ऊपर उठाने की कोशिश करने लगी, किन्तु लज्जा के भार से हाथ ऊपर न उठ सके। हार हाथ ही में रहा गया। आँखें नीची किये, ज़मीन की ओर ताकती हुई, अमीना खड़ी रह गई।

"पहिना दो, अमीना! अपनों से शर्म नहीं करते, बेटी!"

आख़िर, ज्यों त्यों करके, अमीना ने आबिद के गले में हार डाल दिया। हार गले में पड़ते ही आबिद के शरीर में एक विचित्र सन-सनाहट पैदा हो गई।

(२)

यों तो आबिद ने अमीना को अक्सर देखा था, लेकिन उसके हृदय-साम्राज्य में अमीना का ख़याल कभी आधिपत्य नहीं जमा सका था। फिर वह दिन आया, जब अमीना अपनी अनुपम रूप-राशि और भक्ति का उपहार ले कर उसके हृदय-द्वार पर आई। तब मन्दिर में निवास करने वाला एकान्त-सेवी उसका स्वागत किये बिना न रह सका। सैकड़ों भावनाएँ, आशाएँ और उमंगें जाग पड़ीं। पट परिवर्तित हुआ, उसके जीवन के रहस्य अभिनय का नया दृश्य सामने आया। उसे ऐसा ज्ञात पड़ने लगा, मानो गहरी नींद के बाद आँखें खुली हों।

रात के नौ बज चुके थे। आबिद अपने कमरे में अर्ध विस्मृति की दशा में एक आरामकुर्सी पर लेटा हुआ था। अमीना का कल्पित चित्र उसकी आँखों में फिर रहा था।

बूढ़े नौकर अब्बास ने कमरे में प्रवेश करके कहा—"मियाँ! चलिये, खाना तैयार है।"

"अच्छा, चलो, अभी आता हूँ।"

"जल्दी आइयेगा, भैया।"

"अच्छा।"

अब्बास चला गया। फिर वही अर्द्ध-चेतना की दशा हो गई। अमीना फिर आ-आ कर देखने लगी। उसकी वही नाज़ुक नाज़ुक कलाइयाँ, उसकी वही लाज भरी आँखें, उसका वही अदा से आगे

चढ़ना, रुकना और आँखें मींचो कर लेना, बार-बार मूर्तिमान हो कर आबिद के चोट खाये हुए दिल में चुटकियाँ लेने लगा।

थोड़ी देर में अब्बास ने फिर आ कर कहा—"चलिए भैया, खाना खराब हुआ जा रहा है।"

"जा कर कह दो, मैं इस वक्त खाना नहीं खाऊँगा।"

"क्यों, भैया?"

"इस वक्त कुछ खाने की ख्वाहिश नहीं है।"

"तबीयत अच्छी नहीं है क्या, मियाँ?"

"नहीं, तबीयत तो अच्छी है।"

"फिर थोड़ा सा खा न लीजिए, भैया?"

आबिद ने कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर तक अब्बास चुपचाप खड़ा रहा, फिर कुछ उदास हो कर कमरे के बाहर चला गया। क्या यह वही आबिद है, जिसे पहले अपने स्वास्थ्य का इतना ख्याल रहता था कि जेल में खाना ख़राब मिलने के कारण अधिकारियों से अक्सर लड़ा था, अनशन तक किया था?

(२)

उस दिन जब अमीना आबिद को हार पहिनाने गई थी, तो उसके दिल में उस त्यागी देश सेवक का सम्मान करने ही का ख्याल था। जब वीर राजपूत सैनिक रणक्षेत्र की ओर जाने के लिये तैयार होने लगते थे, या रणक्षेत्र से विजय प्राप्त कर घर लौटते थे, तो क्षत्राणी वीर स्त्रियाँ अपने हाथों से उन्हें ज़िरहबख्तर पहिनाती थीं, मस्तकों पर कुंकुम लगाती थीं, मुक्ताफल से आरती करती थीं। अमीना ने उस दिन उन्हीं भावों की प्रेरणा से आबिद को हार पहिनाया था, जो उन राजपूत रमणियों को आन्दोलित करते थे। अमीना आबिद की दिल से इज्जत करती थी। यह ख्याल उस वक्त पैदा हुआ था, जब आबिद के मकान को पुलिस ने घेर लिया था। अमीना ने अपने मकान की छत से, देखा था, कि आबिद ने किस प्रसन्नता से घर से निकल कर अपने को पुलिस के हवाले कर दिया था। उस समय उसका मुख गुलाब जैसा प्रफुल्ल था! वही चित्र अमीना के हृदय में अभी तक अंकित था। एकान्त में उसी चित्र की छाया हृदय से निकल कर उसकी आँखों के सामने आ जाती थी। [illegible] की कोठरी से कैसी सुरभि टपकती थी! पर [illegible] देखा था! उसका

वह सुगठित लम्बा शरीर, भीगती हुई रेखें, सुर्ख-सफेद रंग! और वह सरल विनोद! अमीना समझती थी, शाहिद आदमी नहीं फ़रिश्ता है। अमीना के हृदय में भी राष्ट्रीय भावों का विकास होने लगा। उसने चर्खा कातना और खद्दर पहिनना शुरू किया। लड़कियों के ताने, बाप की नाराज़गी, माँ की झिड़की आदि उसने सब कुछ सह लिया; लेकिन खद्दर के सिवा और कुछ पहिनना मंजूर न किया। आख़िर शाहिद की विदाई का समय निकट आ गया। अमीना ने अपने हाथ के काते हुए सूत से एक हार बनाया। यह वही हार था, जो शाहिद के गले में पड़ा था, जिसने उसके दिल को किसी के दिल का भेद सुनाया था। अमीना की ज़बान अगर बयान करती, तो शायद इन लफ़्ज़ों से बयान न कर सकती।

उस दिन की मुलाक़ात के बाद अमीना के मन पर वे भावनाएँ आधिपत्य जमाने लगीं, जिन्हें वह अभी तक हृदय के अन्तस्तल में दबाये रखने का प्रयत्न करती रहती थी, जिनकी उपस्थिति के ज्ञान ही से उसका सारा हृदय एक प्रकार की प्रभा से भर जाता था। हाँ, उसके सरल, भावुक हृदय पर उन्हीं मादक भावनाओं का रंग चढ़ने लगा।

(२)

शाहिद के हृदय में एक विचित्र संग्राम छिड़ा हुआ था। एक ओर था कर्तव्य दूसरी ओर प्रेम। कर्तव्य कहता था—यह सौन्दर्य और प्रेम के राग अलापने का समय नहीं, काल की गति और देश की परिस्थिति देख कर चलना ही प्राणिमात्र का धर्म है। प्रेम की लहर को दबाओ, और अपने अरमानों को देश की बलि-वेदी पर भेंट चढ़ा दो। किन्तु प्रेम वह जादूगर है, जिस पर कोई मन्त्र नहीं चलता! यह झोंका है जिसके आगे चिराग नहीं जलता।

कांग्रेस के कार्य-क्रम-सम्बन्धी प्रचार के सिलसिले में, इन दिनों शाहिद देहातों में दौरा कर रहा था। सारे दिन एक ग्राम से दूसरे ग्राम जा कर अन्याय-पीड़ित ग्रामीणों की दुःख गाथा सुनना, उन्हें सान्त्वना देना, कांग्रेस के नियम समझाना, मेम्बर बनाना, चर्खा कातने और खद्दर पहिनने का आदेश देना, यही उसका नित्य का कार्य-क्रम था। दिन तो इस तरह बीत जाता था, लेकिन रात काटे नहीं कटती थी। एकान्त सुखद अवश्य होता है, किन्तु बाज़ परिस्थितियों में

नहीं। एकान्त से कल्पना को बड़ी उत्तेजना मिलती है। सोई हुई कामनाएँ जाग पड़ती हैं, और फिर उनसे जान छुड़ाना कठिन हो जाता है।

रात के ग्यारह बज चुके थे। चारों ओर निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी। घंटेभर से चारपाई पर पड़ा आबिद करवटें बदल रहा था, लेकिन उसकी आँखों के लिये नींद कहाँ थी? बहुत देर से एक ही प्रकार की बातें सोचते-सोचते जब उसका जी ऊब गया, तो वह उठ खड़ा हुआ, और सामने के बाग़ की ओर चल दिया। आम के पेड़ों की छाया में आबिद धीरे-धीरे टहलने लगा। सारा बाग़ आम के बौर की भीनी-भीनी सुगन्ध से बसा हुआ था। एक ओर एक कोयल कूक उठी। वह सुगन्ध-सिक्त वायु-मण्डल कोयल के मधुर कण्ठ-स्वर की विकल लहरों से भर गया। उसी की प्रतिध्वनि आबिद के हृदय में भी गूँज उठी। इतने में किसी ने यह चैती गाना छेड़ा—'नाहीं भूले तुम्हारी सुरतिया हो रामा!...' दिल थाम कर आबिद एक पेड़ के नीचे बैठ गया। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो उसी के दिल से यह आवाज़ निकल रही हो—'नाहीं भूले...' उसका हृदय उस पक्षी की भाँति फड़फड़ा रहा था, जिसे व्याध ने पर काट कर छोड़ दिया हो! उसे चारों ओर नैराश्य और विवशता नज़र आने लगी। बड़ी देर तक धूल-गर्द-भरी ज़मीन पर आम के पेड़ के सहारे, आत्म-विस्मृति की दशा में आबिद बैठा रहा। सहसा वह उठ कर स्टेशन की ओर चल दिया। उसने सोचा—'देवी का दर्शन न पा सकूँगा, न सही, उसके दरवाज़े पर माथा तो टेक ही आऊँ।'

दो मील का रास्ता काट कर जब आबिद स्टेशन पहुँचा, तो वहाँ बिलकुल सुनसान था। स्टेशन के बरामदे में केरोसिन-लैम्प का धीमा प्रकाश फैला हुआ था। हाँ, बुकिंग-आफिस के अधखुले दरवाज़े से तेज़ रोशनी निकल कर पक्के फ़र्श पर पड़ रही थी। दरवाज़े के सामने जा कर आबिद ने देखा, अन्दर नाक की नोक पर चश्मा लगाये हुये एक बाबू कुछ लिख रहे थे।

"मैं अन्दर आ सकता हूँ, जनाब?"

नज़र उठा कर बाबू ने आबिद को ध्यान से देखा, और प्रश्न किया—"कहिए?"

आबिद ने कमरे में प्रवेश किया।

"आदाब-अर्ज़!"

"आदाब अर्ज़ !" बाबू आबिद के चेहरे की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने लगे।

"इस वक्त शहर की जानिब जाने वाली कोई गाड़ी मिल सकेगी, जनाब ?"

"इस वक्त ? नहीं साहब, अब इस वक्त तो कोई गाड़ी नहीं आयगी। अब आप को सुबह सात बजे गाड़ी मिलेगी।" सामने खुले हुए रजिस्टर पर दृष्टि जमा कर बाबू साहब ने दावात में क़लम डुबोई।

आबिद ने सामने दीवार पर लगी हुई घड़ी पर दृष्टि डाली—एक बजने में पाँच मिनट बाक़ी थे।

"तो फिर—अच्छा, आदाब-अर्ज़ !"

"आदाब-अर्ज़ !"

कमरे से निकल कर आबिद एक खंभे के सहारे, चेतनाशून्य-सा, खड़ा हो गया। उसे चारों ओर नैराश्य ही नैराश्य नज़र आने लगा। [illegible] आकाश [illegible] जल-द्वी [illegible]।

आबिद प्लेटफ़ार्म पर धीरे-धीरे टहलने लगा। इस तरह वह कितनी देर टहलता रहा, इसका उसे ज्ञान न था। उसकी यह अर्द्ध-चेतना की दशा, उस समय भंग हुई जब पश्चिम से आनेवाली एक मालगाड़ी का प्रतिरुद्ध करता हुआ धड़-धड़ शब्द दिशाओं में गूँजने लगा। गाड़ी रुक गई। एक हाथ में लालटेन लिये हुए, गार्ड साहब प्लेटफ़ार्म पर उतर पड़े। आबिद ने समीप आ कर सलाम किया।

सलाम का जवाब देते हुए, रुक कर, गार्ड ने आबिद को सिर से पैर तक ध्यान से देखा।

"मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ। जनाब, क्या मेरी मदद करेंगे ?" मुझे एक बड़े ज़रूरी काम से इसी वक्त इलाहाबाद जाना है। अगर आप मुझे भी अपने साथ लेते चलें, तो बड़ी इनायत होगी।"

"आपको भी लेता चलूँ ? अच्छा...देखिये...अच्छी बात है, बैठ जाइए।"

"शुक्रिया ! जनाब ने वाक़ई इस वक्त मेरे ऊपर बड़ी इनायत की।" आबिद ने लपक कर 'ब्रेक वान' में प्रवेश किया, शांति की साँस ली, फिर एक ओर बेंच पर बैठ गया। हृदय वेदना कुछ कम हो गई।

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। गार्ड साहब ब्रेक-वान में चढ़ कर, दरवाजे के सहारे बाहर लटक कर, लालटेन दिखाने लगे। जब स्टेशन दूर निकल गया, तो उन्होंने लालटेन एक ओर रख दी, और बेंच पर बैठते हुए कहा—"आप तो शायद कांग्रेस में काम करते हैं ?"

"जी हाँ!"

"इधर कैसे आना हुआ था ?"

"कांग्रेस के काम से।"

"क्यों जनाब, जैसा गांधीजी कहते हैं, क्या सचमुच साल-भर में स्वराज्य मिल जायगा ?"

"इस बात का फैसला तो हमारे-आपके ऊपर ही मुनहसर है। गांधीजी ने तो सिर्फ यह कहा था, कि अगर हमारे देश में रहनेवाला हर शख्स तर्कमवालात करने को तैयार हो जाय, तो हमें एक साल में स्वराज्य ज़रूर हासिल हो जायगा।"

"अच्छा! तब तो... समझने में ग़लती हुई।"

जेब से दियासलाई, और सिगरेट की डिब्बी निकाल कर, गार्ड महोदय ने एक सिगरेट जलाई, और धुएँ के गुब्बारे फेंकने लगे। आबिद भी अपने विचारों में मग्न हो गया।

गाड़ी जब इलाहाबाद स्टेशन पर पहुँची, तो चार बज चुके थे। गाड़ी से उतर कर, गार्ड साहब को एक बार फिर धन्यवाद दे कर, आबिद घर की ओर रवाना हुआ। जब वह घर पहुँचा, तो अरुणोदय की लालिमा दिशाओं में फैल रही थी। सामने जुम्मन जंग का मकान था। आबिद टकटकी बाँध कर देखने लगा। एकाएक खिड़की खुली, और किसी सुंदरी ने अपना गुलाब-सा चेहरा बाहर निकाल कर पूर्व की ओर देखा। सूर्यदेव अभी तक क्षितिज के वस्त्र-अंचल में मुख छिपाये हुए थे। चंचल समीर सुंदरी के केशों से अठखेलियाँ करने लगा। यह दृश्य देख कर आबिद के दिल पर साँप लोट गया। सुन्दरी ने आबिद की ओर देख कर, मुस्करा कर, गरदन झुका ली। सुन्दरी कोई और नहीं, अमीना थी। आबिद अभी अपनी प्यासी आँखों को तृप्त करने में ही लगा हुआ था कि उसका मित्र वाजिद वायु-सेवन के लिये उस ओर आ निकला, और आबिद को घूरकर उसके समीप गया। सलाम-अलेक के बाद वाजिद ने पूछा—"क्यों, भाई आबिद, ख़ैरियत तो है? कैसे परेशान नज़र आ रहे हो ?"

शाकिर के जी में तो आया कि वाजिद को सारी कहानी सुना दे और उसे अपना राज़दार बना ले, किन्तु लाज ने मुख पर मुहर लगा दी। फिर भी ने कमरे से कहा—'तुम्हें फ़िक्र न हो वाजिद!' उसने बात बना कर कहा—"हौज़ पर गया था। वहीं से आ रहा हूँ।"

(५)

मज़मून के बारे में ग़ैर होने के कारण शमा की रोशनी और तेज़ हो जाती है। इश्क मज़मून है, प्रेम शमा। फिर यह कैसे मुमकिन है, कि दिल के अन्दर की जलन मुख मण्डल पर प्रकट न हो। वाजिद ताड़ गया कि इस विकलता के बारे में कोई भेद अवश्य है। उसे विश्वास हो गया कि शाकिर का हृदय अवश्य किसी सुन्दरी के नयन-बाण का शिकार हो गया है। शाकिर का भेद जानने के लिये उसने कई बार इधर-उधर के प्रश्न किये, किन्तु कुछ न जान पाया। दोनों मित्र सम्बन्धी थे। दोनों की वयस भी क़रीब-क़रीब एक थी। एक साथ तालीम पायी, एक साथ ही खेले-कूदे। अपने दोस्त की शोचनीय दशा देख कर, वाजिद को बड़ा तरस हुआ। उसने गुप्त रूप से पता लगाना शुरू किया। अकसर शाकिर शर्मीला के मकान की ओर देखा करता, और कभी कभी मुख से ठंडी साँस भी निकल जाती। यह देख कर वाजिद को यक़ीन हो गया कि हो-न-हो 'नावके नाज़' जिगर के पार हो गया।

एक दिन वाजिद शाकिर के कमरे में बैठा हुआ था। शाकिर गुसलख़ाने में था। मेज़ पर शाकिर की डायरी पड़ी थी। वाजिद ने डायरी उठा ली। दिल ने कहा—'किसी की प्राइवेट चीज़ देखना मुनासिब नहीं, किन्तु कौतूहल प्रबल था। वाजिद पन्ने उलटने लगा। एक स्थान पर लिखा था—'आह! मुहब्बत कैसी ज़ालिम है! जितना मैं अपने को उसके पंजे से छुड़ाना चाहता हूँ, उतनी ही निरन्तर मज़बूत होती जाती है! शमीना, प्यारी शर्मीला, तेरी आँखों में कैसा जादू था!...' वाजिद ने डायरी बन्द कर दी। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो उसने कोई जुर्म किया हो। शाकिर स्नान करके आया, तो उससे आँखें मिला कर बातें करना मुश्किल हो गया। दीवार पर लटकी हुई एक तस्वीर देखते-देखते, शाकिर से इजाज़त ले कर, वाजिद कमरे से बाहर निकल गया। उसे बार बार यही मालूम होने लगा कि उसने गुनाह किया है। वाजिद भी आख़िर इन्सान ही था। उसके पास भी

दिल था। उसने भी यमीना को देखा था, वह भी उसकी सौम्य मूर्ति का उपासक था। एक बार तो वह ईर्ष्या से जल उठा, किन्तु उसके हृदय में मित्र के लिये जो स्वाभाविक स्नेह था, वह प्रबल सिद्ध हुआ। मित्र के लिये वह अपने अरमानों का बलिदान कर सकता था। वह सोचता, 'मैं गुनहगार हूँ। किसी के भेद से मुझे क्या मतलब ? अगर आबिद स्वयं बताना नहीं चाहता था, तो मुझे जानने की क्या ज़रूरत थी ? अपने मित्र के सरल विश्वास से मैंने अनुचित लाभ उठाया है। प्रायश्चित्त कैसे हो ? हाँ, एक तरीका है। अपने अरमानों को मित्रता की बलिवेदी पर भेंट चढ़ा दूँ, और मित्र के लाभ के लिये भरसक प्रयत्न करूँ।"

जब उसका निश्चय दृढ़ हो गया, तो एक दिन उसने यूसुफ़जंग साहब के पास जा कर सारी कहानी कह सुनाई, और उनसे प्रार्थना की कि वे उन दोनों के मार्ग में बाधा न उपस्थित करें।

यूसुफ़जंग साहब के होश उड़ गये। आप एक सरकारी मुलाज़िम थे, असहयोगियों के साये से भागते थे। पहले आबिद के पिता से आपकी बड़ी घनिष्ठता थी; किन्तु जिस दिन आबिद असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुआ, उसी दिन से आपने उसके घर आना-जाना छोड़ दिया। उन्हें भय हुआ कि अगर यमीना का आबिद के साथ निकाह हो जाय, तो कहीं उन्हें नौकरी से हाथ न धोना पड़े।

"तो आपने क्या राय क़ायम की ?"

यूसुफ़जंग साहब सोचने लगे कि क्या उत्तर दें। वह कई क्षण चुप-चाप फ़र्श की ओर ताकते हुए बैठे रहे, फिर वाजिद के चेहरे की ओर देखते हुए बोले—"वाजिद साहब, मैं आपके ख़यालात की इज़्ज़त करता हूँ। मैं जानता हूँ, आप मुझे जो राय दे रहे हैं, वह निहायत दुरुस्त राय है; लेकिन मैं इस मामले में मजबूर हूँ। बिना भाई साहब की इजाज़त के मैं कुछ नहीं कर सकता। और जहाँ तक मेरा ख़याल है, वह कहीं और बातचीत कर रहे हैं।"

"तो क्या बिलकुल उम्मीद न की जाय ?"

"जी हाँ, बिलकुल मजबूरी है।"

वाजिद निराश वापस गया। यमीना की शादी के बारे में यूसुफ़जंग साहब अभी तक बिलकुल ख़ामोश थे, लेकिन अब यह नई फ़िक्र सवार हो [illegible]। 'यमीना की शादी बहुत जल्द कर देनी चाहिये, नहीं तो न जाने [illegible] पैदा आये।' अन्दर जा कर उन्होंने [illegible]

किया। अमीना की माँ ने कहा—"ठीक तो है। लड़की भी यहीं रहेगी। आबिद् भी सजीदा लड़का है। यहीं नज़दीक ही शादी हो जाय, तो क्या बुरा है ?"

लेकिन यूसुफ़ साहब को यह बात पसन्द नहीं आई। बोले—"अब अमीना का यहाँ रहना मुनासिब नहीं !"

फौरन छुट्टी ले कर आप अमीना को सहारनपुर अपने बड़े भाई के यहाँ पहुँचा आये। अमीना की माता बहुत रोती चिल्लाती रहीं। लेकिन उनकी बात सुननेवाला कौन था ?

× × ×

कई मास बीत गये। आबिद की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ने लगी। एक तो जेल ही में स्वास्थ्य नष्ट हो गया था, दूसरे बाहर आते ही यह सौदा सवार हुआ। खाने-पीने से अरुचि हो गई, दुर्बलता बढ़ने लगी। हर समय की परेशानी और फ़िक्र ने और भी घुला डाला। ज्वर रहने लगा। इलाज शुरू हुआ 'लेकिन मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' मर्ज़ कुछ और था, और दवा कुछ और हो रही थी। दो महीने गुज़र गये, लेकिन रोग किसी तरह न घटा। और घटता तो कैसे ! प्रेम-रोग का इलाज ही कुछ और है। पहले तो कभी-कभी दर्शन ही प्राप्त हो जाता था, लेकिन अब उसकी भी कोई सूरत न थी। तमाम दवाइयों में केवल एक ऐसी दवा थी, जिससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता था। और वह दवा थी अमीना के हाथ का हार। इसी से हृदय को ढारस, असह्य पीड़ा कुछ कम हो जाती।

(६)

अमीना की शादी तय हो गई। नवाब इंतज़ार अली के यहाँ से मँगनी आयी। यूसुफ़ साहब ने मन्ज़ूर कर लिया। अमीना की माँ इस शादी के ख़िलाफ़ थीं। उनके दिल में बार-बार यही आता कि इसका नतीजा बुरा होगा। उन्होंने बहुत ज़ोर मारा, समझाया, लेकिन उनकी बात किसी ने न सुनी। विवश हो कर ख़ामोश हो गईं, और दिन-रात बेटी की ख़ैरियत की दुआ करने लगीं।

शादी की तारीख़ निकट आ गई, लेकिन अमीना ख़ुश न थी। आबिद की याद ही उसके विरह व्यथित हृदय की संपत्ति था। सहारनपुर आने पर उसका दिल बहुत बेचैन रहता था। उसी बहादुर नौजवान की सूरत हर समय उसकी आँखों में फिरा करती थी। शादी की बात

सोच कर अमीना घबरा उठती। वह सोचती—'शादी हो जाने के बाद भी क्या मैं ग्राबिद के ख़याल को दूसरी तरह दिल में जगह दे सकती हूँ ?' जितना ग़ौर करती, सिवाय नहीं के उसे कोई जवाब न मिलता। किसी की विवाहिता स्त्री किसी दूसरे पुरुष को, चाहे वह कैसा ही सच्चरित्र व्यक्ति क्यों न हो, अपने दिल में जगह नहीं दे सकती। वह सोचने लगी कि ग्राबिद को छोड़ कर वह किसी दूसरे की उपासना कैसे कर सकेगी। कभी जी में आता, वाजिद से साफ़ इनकार कर दे; किन्तु लज्जा मुख न खोलने देती।

शादी का दिन आ गया। सहारनपुर ही में बारात आने वाली थी। बड़ी धूम थी। अमीना के चाचा सहारनपुर के प्रतिष्ठित रईस थे। घर में बड़ी चहल-पहल थी। सभी ख़ुश दिखाई देते थे। लेकिन अमीना को कोई ख़ुशी न थी। आज उसका चित्त बहुत विकल था। आज ही उसकी परीक्षा का दिन था।

रात के आठ बज गये। बारात दरवाज़े पर आई। सब स्त्रियाँ बारात देखने के लिये घर के बाहरी भाग में चली गईं। अमीना के लिये यह अति उत्तम सुयोग था। संदूक खोल कर उसने कुछ रुपये और गहने निकाले, और पीछे के दरवाज़े से मकान के बाहर निकल गई। अमीना सुशिक्षिता नवयुवती थी। उसे अपने ऊपर पूरा भरोसा था लेकिन वह कभी अकेले बाहर नहीं निकली थी। बाहर निकलते ही उसका दिल धड़कने लगा; किन्तु उसके हृदय में इस समय वह उत्साह था, जो विकट-से-विकट बाधा की परवाह नहीं करता। उसकी दशा इस समय उस निरपराध क़ैदी की-सी थी, जो जेल की दीवार पार कर बाहर आ गया हो, और ज़रा-सी आहट से घबरा उठता हो! ख़ैर, यह सब होते हुए भी अमीना बड़ी प्रसन्न थी। वह ऐसी तेज़ी से चली जा रही थी कि अपनी तेज़ी पर उसे स्वयं आश्चर्य था।

(७)

अस्पष्ट आशा के जिस कोमल सूत्र से आबिद का रोगी जीवन इह-लोक से बँधा हुआ था, अमीना की शादी की ख़बर सुनते ही वह भी टूट गया। वह धीरे-धीरे जीवन-तरी उस विशाल लहर का अन्वेषण करने लगी, जो उसे अपने वक्ष में आश्रय दे कर शान्ति प्रदान करती। सवेरे से शाम तक आबिद के घर पर उसके हितैषियों और शुभचिन्तकों की भीड़-सी लगी रहती। नगर के प्रत्येक हिन्दू और मुसलमान के दिल से उसके लिये दुआ निकल रही थी।

रात के नौ बज चुके थे। पूरे दो घंटे की मूर्च्छा के बाद आबिद ने आँखें खोलीं। वाजिद सिरहाने बैठा हुआ था। हाथ से इशारा करके आबिद ने पानी माँगा। वाजिद ने एक शीशे के गिलास में पानी दिया। पानी पी कर आबिद ने क्षीण स्वर में कहा—"वाजिद, तुम मेरे दिली दोस्त हो। इसलिये मरने से पहले तुमको उस राज़ से आगाह करता हूँ, जिसके आग़ाज़ से मेरी ज़िन्दगी और मौत की कशमकश शुरू हुई। मैं अमीना को प्यार करता हूँ। अब मेरा आख़िरी वक़्त आ गया है। देखो, यह हार अमीना ने मुझे अपने हाथ से पहिनाया था। मेरी यह तमन्ना है कि क़ब्र में यह हार मेरे गले में हो। मुझे उम्मीद है कि तुम अपने मरने-वाले दोस्त की तमन्ना ज़रूर पूरी करोगे। भाई, आओ एक बार तुम से मिल लूँ।"

वाजिद की आँखों से आँसू जारी थे। दोनों दोस्त लिपट कर रोने लगे। फिर एक हिचकी आई, और आबिद हमेशा के लिये ख़ामोश हो गया। आँखें ज्योतिहीन हो गईं, साँस रुक गई, शरीर ठण्डा हो गया।

आधी रात बीत चुकी थी। किन्तु क़ब्रिस्तान जैसे सुनसान स्थान पर इस समय विचित्र भीड़ थी। जो सुनता नंगे सिर, नंगे पैर पहुँच जाता। आबिद की लाश दफ़न कर दी गई, फ़ातिहा पढ़ा गया। लोग अफ़सोस करते हुए घर लौटने लगे।

क़ब्रिस्तान में फिर निस्तब्धता छा गई। आबिद की याद में एक टिमटिमाती हुई शमा आँसू बहा रही थी। इसी वेदनापूर्ण सन्नाटे में एक सुन्दरी केश बिखराये हुए आई, और आबिद की क़ब्र से लिपट कर बेहोश हो गई। यह कोई और नहीं, वही अभागी अमीना थी।

एक ज़माना गुज़र गया। लेकिन अगर आज भी कोई सवेरे के समय क़ब्रिस्तान के बग़ल वाली सड़क पर निकल जाय, तो आबिद की क़ब्र पर कुछ मुर्झाये हुए फूल और एक बुझी हुई शमा हर रोज़ नज़र आयेगी। जन-साधारण का ख़याल है कि आबिद की क़ब्र पर रात को परियाँ आ कर नाचती हैं, और वे ही फूल चढ़ा जाती हैं। लेकिन बात कुछ और है। यथार्थ तो यह है कि यह काम ग़रीब अमीना का है। आबिद के देहावसान के बाद उसने अपना नैराश्यपूर्ण जीवन देश-सेवा में लगा दिया। दिन-भर सेवा-कार्य में रत रहती है, और रात के समय क़ब्रिस्तान में जा कर आबिद की क़ब्र पर अपने हाथ का गूँधा हुआ हार चढ़ाती है, शमा रोशन करती है, और कभी-कभी दर्द से भरी हुई कोई ग़ज़ल गाती है।

घर

जेल की उस कोठरी को, जिसमें उसने अपने जीवन के पिछले इक्कीस साल बिताये थे, आखिरी बार हसरत से देख कर, कैदी मित्रों से विदा लेकर, बीरू जेलर के कमरे की ओर चला। इधर-उधर काम में लगे हुए कैदी उसकी ओर ईर्ष्यालु, किन्तु उदास आँखों से देख रहे थे। आज वह चला जा रहा था—वह, जो सदा उनका दुख बँटाने को तैयार रहता था, जो उनके मेल-जोल में, हँसी-मज़ाक में, सदा सब से आगे रहता था। ऐसे ज़िन्दादिल साथी से बिछुड़ने का सब को दुःख था। सब के सलाम का जवाब देता हुआ, वह मन मारे चला जा रहा था। जा रहा था उसे मानो उस कोठरी में संसार की सारी विभूतियाँ, जिनके जीवन में इतने दिनों दुख मिल कर उसने अपनापन स्थापित कर लिया था, आज उसे कातर दृष्टियों से देख कर पीछा के भार को पा रही हों।

एक सीधे निःश्वास छोड़ कर, सिर उठा कर, उसने जेलर के कमरे में प्रवेश किया। जेलर की कठोर मुद्रा इस समय शान्त थी। बीरू को एक बार सिर से पैर तक देख कर, जेलर ने कहा—"जा रहे हो, बीरू?"

"जी हाँ, हुज़ूर!"

"तुमने मेरी बड़ी ख़िदमत की है।"

बीरू का सिर झुक गया। ज़मीन की ओर ताकते हुए उसने कहा—"हुज़ूर, यह क्या कह रहे हैं..."

"नहीं बाबू, मुँह देखे की बात नहीं कह रहा हूँ। मुलाज़िमत करते मुझे २१ साल हो गये। इस अरसे में मुझे हज़ारों कैदियों की निगरानी करनी पड़ी है। ज़रूरत पड़ने पर मैंने बहुतों से काम लिया है, लेकिन जिस मुहब्बत से तुमने मेरी ख़िदमत की है, किसी दूसरे ने नहीं की।"

"हुज़ूर, मैंने तो वही किया, जो मुझे करना चाहिये था!"

"अब मेरी ख़िदमत कौन करेगा बीरू!"

सिर झुका कर बीरू बोला—"हुज़ूर की ख़िदमत करने के लिये मेरे जैसे दस मिल जायँगे।"

"नहीं, तुम्हारा ख्याल ग़लत है।"

दो-तीन पल चुप रह कर, जेलर ने फिर कहा—"अब तुम आज़ाद हो। तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो; जो कुछ चाहो, कर सकते हो। इसलिये तुम्हें एक सलाह देना चाहता हूँ। देखो, दुनिया में जा कर अमन की ज़िन्दगी बसर करना। जेल में रह कर इन्सान इन्सान नहीं रह जाता; इसलिये क़ैद से निकल कर उसकी तबीयत आम तौर से जुर्म करने की तरफ़ ही झुकती है। लेकिन दरअसल बहादुरी जुर्म करने में नहीं है; बहादुरी है तबीयत को रोकने में!"

"हुजूर, ठीक कहते हैं।"

"तो तुम वादा करते हो कि यहाँ से जा कर भले आदमियों की तरह रहोगे?"

"जी हाँ, हुजूर!"

"अच्छा, तो अब तुम्हें जाना चाहिये। देर हो रही है। यह लो।" जेब से दो रुपये निकाल कर जेलर ने बीरू की ओर बढ़ा दिये।

"हुजूर! सफ़र-ख़र्च तो मिल ही चुका है......"

"सफ़र-ख़र्च तो सरकार की तरफ़ से मिला है। यह तो मैं तुम्हें दे रहा हूँ।"

"हुजूर ने पहिनने के लिये यह सब कपड़े दिये हैं। अब रुपये भी दे रहे हैं। आपके रिन से मैं कभी उरिन न होऊँगा।"

"ले लो, संकोच न करो। यों ही दे रहा हूँ, इसे क़र्ज़ न समझो।"

रुपये ले कर, हाथ जोड़ कर, बीरू ने कहा—"हुजूर, मुझ से जो ग़लती हुई हो, उसके लिये माफ़ी चाहता हूँ।"

बीरू के चेहरे की ओर देख कर, जेलर ने सिर झुका लिया। उस समय कुछ कहने की उनमें शक्ति न थी। जेलर के पैर छू कर, प्रणाम कर, जब बीरू बाहर निकला, तो उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं।

फाटक खोलते हुए, संतरी ने कहा—"जाते हो, बीरू?"

"हाँ, भइया।"

"अब तुमसे काहे को भेंट होगी?"

"भगवान् जाने, ठाकुर! 'मन चीती नहिं होत है, हरि चीती तत्काल!'"

"ठीक कहते हो, बीरू।"

फाटक खुल गया। वह बाहर निकला।

"अच्छा, चलें ठाकुर ! जय राम !"

"जय राम, भइया ! देखो, हमें भूल न जाना !"

"यह क्या कहते हो ठाकुर ? सगा साथियों को भला, कोई भूल सकता है ?"

आँखें बंद कर, रुक कर, मुड़ कर, उसने एक बार जेल के फाटक की ओर देखा, और विदा ली। फिर जेलर के घर में प्रवेश किया। भीतर सहन में शामू खेल रहा था। धीरू को देखते ही उसकी ओर लपका। तुरन्त गोद में उठा कर, वह उसे प्यार करने लगा। धीरू को देख कर, कमरे से निकल कर, शामू की माँ ने पूछा—"तैयार हो गये धीरू ?"

"हाँ, बहूजी।"

"तुम तो जा रहे हो, अब शामू को कौन खिलायेगा ?"

धीरू के पास कोई उत्तर न था। सिर झुका कर, अपने उस श्मशान-से मन की सारी ममता लेकर वह शामू के कमनीय मुख-मण्डल की ओर देखने लगा। शामू उसकी दाढ़ी के बालों को अपनी नन्हीं नन्हीं अँगुलियों में लपेटने की कोशिश कर रहा था। धीरू की आँखों में आँसू छलक आये।

"रास्ते के वास्ते कुछ खाना लेते जाओ।"

"क्या होगा, बहूजी ?"

"नहीं, लेते जाओ।" रसोई घर में जाकर शामू की माँ एक साफ कपड़े में थोड़ी भाजी और पूरियाँ बाँध लाई।

"अब कब आओगे, धीरू ?"

"कह नहीं सकता, बहूजी।"

"कभी कभी आकर हाल चाल दे जाना।"

"हाँ, बहूजी, जरूर आऊँगा। अच्छा, अब चलूँ।"

शामू को गोद से उतार कर, धीरू ने पोटली ले ली। शामू रोने लगा। उसकी माँ उसे फुसलाने का चेष्टा करने लगी।

"सलाम, बहूजी !" धीरू शीघ्रता से बाहर निकल गया।

आजादी की हवा में साँस लेता हुआ बटोही घर जाने वाले मार्ग पर सुव्यवस्थित गति से चला जा रहा था। साधारण प्रयास से वहाँ के जीवन में घुल मिल जाने के कारण, परदेस में उसे सुख तो यथेष्ट था, लेकिन घर घर है, परदेस 'परदेस' ! 'परदेस' घर की बराबरी

कैसे कर सकता है ? घर की वे सारी विभूतियाँ, जिन से प्रारब्ध ने उसे अनायास ही अलग कर दिया था, आज अपने सम्पूर्ण आकर्षण से उसे अपनी ओर खींचने लगीं। टिमटिमाता हुआ दीपक फड़क-फड़क कर रोशनी फेंकने लगा ! मुर्झाता हुआ हृदय खिल उठा। किन्तु मायाविनी नियति अदृष्ट के परदे में बैठी हुई, बटोही का उद्वेग देख कर, मुस्करा रही थी।

दस साल पहले की स्मृतियाँ आँखों के सामने आने लगीं—

शाम हो चली थी। अपने बलिष्ट सिर पर मवेशियों के लिये करबी का एक बड़ा बोझ लादे हुए, बीरू अपने उस छोटे से झोपड़े के द्वार पर आया। गट्ठर एक ओर पटक कर, सिर से अँगौछा उतार कर उसने पसीना पोंछा। उस समय वह ऐसा दिखाई देता था, मानो कोई पहलवान अभी-अभी अखाड़े से निकला हो ! उसके उभरे हुये सीने, चढ़े हुये बल्लों और भरी हुई रानों से असाधारण पुरुषार्थ का प्रमाण मिलता था। उसका वह स्वस्थ शरीर दरिद्र तो अवश्य था, किन्तु सुखी था। उस गुड़िया-सी सुन्दर भोली-भाली स्त्री-रत्न को पाकर, किसी और वस्तु की उसे क्या परवाह था ?

अँगौछा कंधे पर रख कर, उसने घर के भीतर प्रवेश किया। आँगन में टाट के एक छोटे-से टुकड़े पर बैठी हुई उसकी स्त्री रूपा सामने फूल की चमकती हुई थाली में रक्खे हुये चावल बीन रही थी। काली, महीन साड़ी से उसके सुकुमार शरीर का कुन्दनी रंग छन-छन कर बाहर निकल रहा था। सिर उठा कर एक बार पति की ओर देख कर, सिर झुका कर, वह फिर चावल बीनने लगी। बीरू का माथा ठनका। रूपा के सुन्दर चेहरे पर विषाद की छाया थी, मानो अपनी सम्पूर्ण आभा से चमकते हुये चन्द्रमा पर काले बादल का एक टुकड़ा छा गया हो !

"कैसा जी है रे ?"

रूपा ने कोई उत्तर न दिया। तब बीरू उसके बग़ल में जा बैठा, और उसके गले में बाँह डाल कर, अपने उस सावन की नदी के समान भरे हुये हृदय का सारा प्यार, सारा उन्माद आँखों में भर कर, उसकी ओर देखता हुआ, बोला—"इसीलिये कहता हूँ, ज़्यादा मेहनत न किया कर ! सिर में पीरा है क्या ?"

[illegible] घाव करुणा की चोट खा कर उछले [illegible] आँखों

में आँसू छलक आये। अवरुद्ध कण्ठ से कोई शब्द न निकल सका। पीड़ा से तड़प कर, बीरू ने उसे अपनी सबल भुजाओं में बाँध लिया। रूपा की आँखों से आँसू बहने लगे।

"किसी से कुछ कहा-सुना भई है क्या रे?"—अँगोछे से उसके आँसू पोंछते हुये, बीरू ने पूछा।

चित्त कुछ सँभाल कर, पति की गोद में पड़ी हुई रूपा ने भर्राये हुये कण्ठ से कहा—"तुम से कोई बात कहते बड़ा डर लगता है।"

"बता रे, क्या बात है?"

"तुम्हारा गुस्सा खराब है। कहीं कुछ कर बैठो, तो मुफ्त आफत में फँसना हो।"

"गुस्सा उसका रहने दे। बता तो, क्या बात है?"

"अभी जब चाचा के कुआँ पर पानी भरने गई थी, तो उनका करिन्दा बोली बोलता रहा।"

बीरू को ऐसा जान पड़ा, मानो सुनसान में सहसा किसी ने पीछे से उसके सिर पर लाठी मार दी हो! किन्तु, दूसरे पल वह क्रोध से खौलने लगा, भुजाएँ फड़कने लगीं, नेत्र आग्नेय हो गये।

पति से अलग हो कर, उसके पैर पकड़ कर, रूपा ने कहा—"देखो, गुस्सा न करो। चित्त सँभालो। इसीलिये कहती थी, कुछ न पूछो।"

पैर छुड़ाते हुये बीरू बोला—"उसने क्या कहा? सब हाल बता तो रे।"

"मैं अपनी डोल कुइयाँ में डाल रही थी, उसी वक्त वह एक गगरा लिये हुये जगत पर चढ़ आया, और मेरी रस्सी पकड़ कर कहा—'लाओ, मैं भर दूँ। तुम्हारे नाजुक हाथ थक जायेंगे।' मुझे गुस्सा आ गया। मैंने कहा—'हटो, रस्सी छोड़ दो, नहीं तो अच्छा न होगा! घर में माँ-बहिन नहीं हैं क्या?' मेरे मुँह से यह सुन कर, उसने एक ऐसी खराब बात कही, जिसे कहते मुझे शरम आती है। मैंने भी उसे खूब खरी-खोटी सुनाई, और जल्दी जल्दी पानी भर कर घर चली आई।"—इतना कह कर पति के चेहरे का भाव देख कर, सहम कर, उसने फिर उसके पैर पकड़ लिये।

"पैर छोड़ दे रे!"

"नहीं, मैं तुम्हें कहीं न जाने दूँगी। इस वक्त तुम अपने आपे में नहीं हो।"

"देख, छोड़ दे। जरा, भारी दादा के घर जाऊँगा। उस साले कारिन्दे से अभी मैं कुछ न बोलूँगा!"

"मेरी सौगंध खा कर कहो!"

हृदय की उस उत्तेजना को रोक कर, पत्थर के समान बन कर, बीरू ने कहा—"तेरी सौगंध, कोई ऐसा-वैसा काम न करूँगा।"

तब रूपा ने पति के पैर छोड़ दिये। नशे में चूर शराबी की तरह लड़खड़ाता हुआ बीरू घर से बाहर निकल गया।

दस दिन बाद की बात है। उस समय पूर्व में तारिका-जटित विराट् गगन की झलमलाती हुई चादर की कोर उठा कर उषा मुसकराने लगी थी। गाँव के तालाब के किनारे शौचादि से निवृत्त हो कर जब बीरू घर पहुँचा, तो उसे बाहर का दरवाज़ा खुला मिला। बाहर जाते समय उसने रूपा से किवाड़ बन्द कर लेने को कहा था। फिर उसने बन्द क्यों नहीं किया? शायद सो गई; उस समय वह नींद में थी। उसने अन्दर जा कर देखा, रूपा की खाट खाली पड़ी थी। घर में वह कहीं न थी। इतने सवेरे वह कहाँ चली गई। शायद वह भी शौचादि के लिये गई हो। रूपा की खाट पर बैठ कर वह उसकी प्रतीक्षा करने लगा। निद्रा का फिर आक्रमण हुआ, झपकियाँ आने लगीं। तब वह खाट पर पैर फैला कर सो गया।

जब उसकी नींद टूटी, तो दिन चढ़ आया था। लेकिन रूपा उस समय भी घर नहीं लौटी थी। बीरू का हृदय अज्ञात आशंका से काँप गया। तुरन्त घर का दरवाज़ा बन्द करके वह उसे ढूँढ़ने निकला। गाँव में गली-गली घूम कर उसे खोजा, पर उसका कहीं पता न था। चारों ओर खलबली मच गई। अन्य ग्रामों में रहनेवाले अपने नातेदारों के घरों पर जाकर उसने पूछ-ताछ की, लेकिन रूपा कहीं न मिली। तब अपने हितैषियों की सलाह से थाने पर आकर उसने रिपोर्ट लिखाई। रिपोर्ट लिख कर थाने वाले निश्चिन्त हो गये।

उपर्युक्त घटना के एक सप्ताह बाद एक दिन सवेरे मुरादपुर तहसील के थाने में बड़ी भीड़-भाड़ थी। थाने का अहाता दर्शकों से भरा पड़ा था। बीच में थाने के दोनों दारोगे, वर्दियाँ पहिने, कुरसियों पर बैठे थे। सामने बीरू रस्सी से बँधा बैठा था। उसके समीप घूँघट काढ़े, सिर झुकाये, रूपा बैठी हुई थी। एक ओर सफ़ेद चद्दर से ढँकी हुई एक लाश रखी थी। इधर-उधर कांस्टेबिल और आस-पास के ग्रामों के

सिपाही खड़े हुये थे। बीरू ने अपने बयान में कहा—"जब मेरी घरवाली मेरी ग़ैर हाज़िरी में घर से ग़ायब हो गई, तो मुझे लाला (मुंशी हरभजराय) के ज़िलेदार, रघुनाथ सहाय, के ऊपर शक हुआ था। उस दिन थाने में मैंने जो रिपोर्ट लिखाई थी, उसमें मैंने यह बात ज़ाहिर कर दी थी। ज़िलेदार साहब का पता लगा कर, जब मैं उनके पास पहुँचा, और उनके पैर पर पगड़ी रख कर विनती की कि मेरी जोरू मुझे लौटा दी जाय, तो यह कह कर कि मैं उनके ऊपर झूठा इलज़ाम लगा रहा हूँ, वह मेरे ऊपर बहुत ख़फ़ा हुये और मुझे मारने की धमकी दी। रो-पीट कर मैं चला आया, लेकिन मेरा शक रफ़ा न हुआ। तब से टोह लगाता हुआ, मैं बराबर इधर मारा मारा फिरता रहा। कल शाम को मुझे पता लगा कि ज़िलेदार ने मेरी जोरू को सैदाबाद में ले आ कर रखा है। यह ख़बर पाते ही मैं अपने एक साथी को ले कर सैदाबाद के लिये रवाना हुआ। रात दस बजे का अमल होगा, जब हम सैदाबाद पहुँचे। उस समय गाँव में सोता पड़ गया था। छुपते छिपते हम उस मकान के पास पहुँचे, जहाँ मेरी लुगाई रूपा बन्द थी। उस मकान के सामने ज़िलेदार के दोनों सिपाही तम्बाकू पी रहे थे। सामने से घुसना मुमकिन न था, इसलिये हम दोनों मकान के पीछे गये। पीछे दीवार से लगा हुआ एक नीम का पेड़ मिला। अपने साथी को नीचे मुस्तैद खड़े रहने की ताक़ीद करके, मैं उस नीम के पेड़ पर चढ़ने लगा। कुछ ऊपर जा कर सामने एक डाल छप्पर से थोड़े फ़ासले पर फैली हुई दिखाई दी। उस डाल पर आ कर, मैं धीरे से छप्पर पर उतर पड़ा। फिर दबे पाँव छप्पर के किनारे तक आ कर आँगन में कूद पड़ा। आँगन में खड़े होकर मैंने देखा, सामने दालान में एक लालटेन जल रही है, और ज़िलेदार साहब एक खाट पर बैठे हुये मेरी तरफ़ घूर कर देख रहे हैं। लाठी लेकर वह मेरे ऊपर झपटे। उन्होंने वार किया। मैंने ख़ाली दिया, और पीछे जाकर कमर पकड़ कर उन्हें ज़मीन पर पटक दिया। फिर लाठी छीन कर एक तरफ़ फेंक दी। हम दोनों गुथ गये। एकाएक उन्होंने मेरी पीठ में दाँत चुभो दिये। पेंच लगा कर मैं उनके सीने पर सवार हो गया। उन्होंने मेरे ऊपर थूक दिया। तब टेंट से छुरा निकाल कर मैंने उनका गला काट डाला। इसी वक्त सामने की कोठरी से रूपा के कराहने की आवाज़ आई। कोठरी में बाहर से साँकल लगी हुई थी। लालटेन

लेकर दरवाज़ा खोल कर, मैं कोठरी में घुसा, सामने एक खाट पर रूपा पड़ी थी। उसकी हालत बिलकुल बिगड़ी हुई थी। मुझे देख कर वह रोने लगी। उसे साथ लेकर मैं कोठरी से बाहर निकला। सामने दरवाज़े पर धमाधम चोटें हो रही थीं। शोर भी हो रहा था। लाठी सँभाल कर, मैंने दरवाज़ा खोल दिया। कई आदमी एकसाथ अन्दर घुस आये। वह मेरी तरफ़ लपके, मैंने भी लाठी तानी। फिर मैं गिरफ़्तार हो गया। इस क़त्ल का मैं अकेले ज़िम्मेदार हूँ। मेरे साथी का उसमें कोई हाथ नहीं है। उसका नाम मैं नहीं बता सकता। रूपा से मुझे मालूम हुआ, कि उस दिन तड़के जब मैं घर से बाहर चला गया, तो दरवाज़ा बन्द करके वह खाट पर पड़ रही और सो गई। एकाएक उसे ऐसा जान पड़ा कि कोई उसकी खाट के पास खड़ा है। उसने आँखें खोल कर देखा, खाट के पास कई आदमी खड़े हुए काना-फूसी कर रहे थे। हाथ-पैर बाँध कर, मुँह में कपड़ा ठूँस कर वे उसे उठा ले गये।

बीरू के बाद रूपा और अन्य कई व्यक्तियों के बयान लिये गये। उसी दिन चालान हुआ। मेजिस्ट्रेट ने उसे सेशंस सुपुर्द किया। सेशंस जज ने कालेपानी की सज़ा दी। हाई कोर्ट में सज़ा घट कर दस वर्ष की सख़्त क़ैद रह गई।

(२)

जेल में रूपा केवल चार बार बीरू से मिलने आई थी। पहले साल एक बार, दूसरे वर्ष दो बार, तीसरे साल एक बार। तब से बीरू को उसकी कोई ख़बर नहीं मिली थी। उसे तो यह भी पता न था कि रूपा जीवित भी है कि नहीं; किन्तु उसका मन विश्वास दिलाता था, रूपा जीवित है। पता नहीं, उस से भेंट होगी कि नहीं।

प्रयाग रखवे स्टेशन की ओर जाते समय, वहाँ पहुँच कर टिकट लेकर गाड़ी की प्रतीक्षा करते समय, रेल के उस थोड़ी देर के सफ़र में बीरू बराबर रूपा की बात सोच रहा था। घर का स्टेशन आ गया। गाड़ी से उतर कर, टिकट बाबू को टिकट देकर, स्टेशन से बाहर निकल कर, वह अपने गाँव की ओर चला। उस समय संध्या की अँधेरी क्रमशः धुँधली होती जा रही थी। बसेरा लेते हुए पक्षियों का कलरव भी मंद पड़ता जा रहा था। तार लाँघ कर बीरू पगडंडी पर चलने लगा। आज उन सुपरिचित खेतों और बाग़ों में चलते हुए उसे वैसा ही आनन्द अनुभव होने जैसा उस समय प्राप्त होता था, जब लड़कपन में

माँ गोद में लेकर उसे प्यार करने लगती थी ! उन खेतों और बागों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । यह सामने गाँव का तालाब जैसा-का-तैसा दिखाई देता था । उधर वह खजूर का पत्ता कुआँ भी ठीक वैसा ही मौजूद था जैसा दस वर्ष पहले था । तो उसके घर में क्या कोई परिवर्तन न हुआ होगा ? रूपा क्या बदली न होगी ? उसके बाल तो अवश्य पक गये होंगे । वार्धक्य के करीब पहुँची होगी । रूपा घर पर मिलेगी कि नहीं, कौन जाने । उसने कदम तेज कर दिये ।

गाँव सामने आ गया । साधो काछी के घर के सामने एक खाट पर दो तीन आदमी बैठे हुए गप-शप कर रहे थे । साँवले रंग का यह जवान कौन है ? शायद साधो का बड़ा लड़का है । बहुत बड़ा हो गया ! इधर से जाना तो ठीक न होगा । दूसरी पगडण्डी पर मुड़ कर वह अपने घर की ओर चला । उसका हृदय वेग से धड़कने लगा । रुक कर, चित्त सँभाल कर वह फिर आगे बढ़ा ।

घर के निकट पहुँच कर उसने देखा, बाहर छप्पर छाया हुआ था । घर के सामने का वह नीम का पेड़ जैसा था वैसा ही खड़ा था । चबूतरा भी वैसा ही था । हाँ, इधर-उधर मिट्टी जरूर खिसक गई । सँभाल-सँभाल कर पैर रखते हुए, आगे बढ़ कर, रुक कर, उसने देखा, घर के दरवाजे पर ताला लटक रहा है ! उस कठोर आघात से आहत होकर वह वहीं दालान में ज़मीन पर बैठ गया । दो चिमगादड़ उसके कान के पास से उड़ कर निकल गईं । रूपा कहाँ चली गई ? इसी जटिल प्रश्न पर उसका भविष्य निर्भर था, किन्तु इसके हल करने में उसका मस्तिष्क असमर्थ सिद्ध हुआ । थोड़ी देर तक वह वहीं मूर्तिवत् बैठा रहा, फिर उठ कर झारी चौधरी के घर की ओर चला ।

अपने मात्र-सुपरे कौवई के सामने नारियल मुँह में लगाये हुए झारी चौधरी एक खाट पर बैठे हुए थे । धोती के अतिरिक्त चौधरी के शरीर पर और कुछ न था । सिर और मूँछों के बाल सन की तरह सफ़ेद हो गये थे । चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं । आँखों की रोशनी घट चली थी ।

"चौधरी दादा, जय राम !"

नारियल मुँह से हटा कर, स्मृति पर ज़ोर देते हुए आँखें फाड़ कर रेंड़ी के तेल के उस मंद प्रकाश में चौधरी उसे पहिचानने की कोशिश करने लगा ।

"जय राम ! कौन हो, भइया ? तुम्हें पहिचान नहीं सका। अब रात में ज़रा कम दिखाई देता है।"

"मैं हूँ, दादा, बीरू।"

"बीरू ! आओ बेटा, आओ, बैठो। जेहल से कब छूटे ?"

"आज ही तो छूटा हूँ, दादा। सीधे चला आ रहा हूँ।"

"बहुत अच्छा किया, बेटा। तुम तो पहिचाने ही नहीं जाते हो ! दाढ़ी क्यों रख ली, बेटा ?"

"ऐसे ही, दादा। और सब कुशल-मंगल है ?"

"सब कुशल-मंगल है, भइया। अपना हाल-चाल कहो। बीरू की माई रे ! चल देख, बीरू छूट कर आ गया।"

एक क्षण में एक वृद्धा सिर हिलाती हुई बाहर निकली, और अपनी निस्तेज आँखों से बीरू की ओर देखने लगी। बीरू ने तुरन्त उठ कर वृद्धा के पैर छुए।

"जीते रहो, बेटा ! अभी चले आ रहे हो क्या ?"

"हाँ, दादी, अभी आ रहा हूँ।"

बीरू खाट पर जा बैठा। वृद्धा खाट के समीप ज़मीन पर बैठ कर हाल-चाल पूछने लगी। बीरू उन दोनों के सवालों का जवाब तो दे रहा था, किन्तु उसका मस्तिष्क एक दूसरे ही प्रश्न में उलझा हुआ था। 'रूपा का हाल इन लोगों से कैसे पूछूँ ?' सहसा वृद्धा बोली—"अपने घर भी गये थे, बेटा ?"

"हाँ, गया तो था, दीदी; मुदा वहाँ तो ताला लगा है।"

"हाँ, बेटा ! क्या करोगे, जो भाग में लिखा होता है; वह हो कर रहता है !"

बीरू का हृदय काँप उठा। उद्वेगपूर्ण कौतूहल से उत्तेजित हो कर उसने कहा—"सारा हाल साफ़-साफ़ बता दे, दादी। बड़ा जस मानूँगा।"

"वह सब पीछे सुन लेना, बेटा," चौधरी ने कहा—"पहले कुछ खा-पी लो।"

"नहीं, दादा, अभी भूख नहीं है। सहर से खा कर चला था। हाँ, दादी बता दे।"

वृद्धा ने सिर हिलाते हुए कहा—"कुछ न पूछ, बेटा ! तेरे घर पर पाँच बरिस से ताला झूल रहा है। रुपिया बैजनाथ के नीचे बैठ गई।

जिसके लिये तूने इतना कलेश सहा, जेहल काटा, वह ऐसी कुलच्छिनी निकली ! कैसा कलयुग आया है ! हे भगवान् ! हे भगवान् !"

बीरू को ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने खौलता हुआ विष उसके कानों में डाल दिया हो। उसके बीहड़ उर-प्रदेश में एक तूफ़ान भयंकर वेग से उठ खड़ा हुआ। उसकी वह चिर-पोषित ममता तूफ़ान में हिलोरें ले-ले कर चीत्कार करती हुई ताण्डव-नृत्य करने लगी।

"जाने दो, बेटा ! क्या करोगे ? दुनिया की यही रीति है। अब आ गये हो। घर सँभालो, दूसरी सगाई कर लो।"

बूढ़ा के उपर्युक्त वाक्यों का एक शब्द भी बीरू न सुन पाया। स्तम्भित, चित्र-लिखित-सा वह थोड़ी देर तक निस्तब्ध बैठा रहा। फिर उसने किसी खोये हुए की तरह धीरे से पूछा—"बैजनाथ आज-कल कहाँ रहता है, दीदी ?"

"सीतलपुर में रहता है, बेटा। तुम आ गये, भइया, यह बहुत अच्छा हुआ। अब पुरखों के घर में चिराग़ तो जलेगा ! हम लोगों का मन भी लगा रहता था। जब तक जियेंगे, तुम्हें आँखों से देख तो लिया करेंगे।"

बीरू उठ कर खड़ा हो गया। चौधरी ने तुरंत कहा—"कहाँ जा रहे हो, बेटा ? चलो, भोजन बना कर खा-पी लो। फिर जहाँ जाना हो, जाना।"

"हाँ, बेटा, मैं अभी सब ठीक किये देती हूँ। भोजन चटपट बन जायगा।"

"नहीं, दीदी, मुझे भूख नहीं है। ज़रा और लोगों से मिल आऊँ।"

चौधरी ने बीरू के मुख की ओर देख कर कहा—"अच्छा, जाओ, भइया। जल्दी लौट कर आना।"

जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ बीरू सामने अंधकार में लोप हो गया। काकी चौधरी ने सिर हिलाते हुए कहा—"बीमर की माई, बीरू बड़ा अभागा है !"

"[illegible] !"

[illegible]

[illegible] —"सब धान बाईस पसेरी नहीं होता !"

(४)

दोपहर का समय था। धीरू ने मोहनपुर में प्रवेश किया। इस समय उसकी दशा बिलकुल बावले की-सी हो गई थी। कल रात से अब तक उसने केवल दो बार जल पिया था, किन्तु अन्न का एक दाना भी उसके मुख में न गया था। रामू की माता ने पूरियों की जो पोटली दी थी, वह उसके घर के बाहर दालान में पड़ी हुई थी। नींद का भी कहीं पता न था। उसे ऐसा जान पड़ता था, मानो ज़ोरों का नशा चढ़ा हो।

मिट्टी के एक साधारण झोंपड़े के सामने पहुँच कर धीरू ने आवाज़ लगाई—"बैजनाथ महतो हो!"

किसी ने उत्तर न दिया। उसने फिर आवाज़ लगाई, लेकिन फिर जवाब न मिला। तब वह इधर-उधर देखने लगा। सहसा उसे ऐसा जान पड़ा, मानो कोई उसकी ओर देख रहा हो। उसने मुड़ कर देखा—अधखुले दरवाज़े की आड़ से कोई उसकी ओर देख रहा था। आगे बढ़ कर उसने ग़ौर से देखा, वह रूपा थी।

"रूपा!"

सिहर कर, भय से काँपती हुई, रूपा दरवाज़े से हट कर भीतर चली गई। तब धक्के से दरवाज़ा खोल कर उसने अन्दर प्रवेश किया। आँगन में एक ओर खड़े हो कर उसने देखा—एक खटोले पर दसनी के ऊपर दो वर्ष का एक बालक सो रहा था। खटोले के समीप खड़ी हुई रूपा उसकी ओर भयातुर आँखों से देखती हुई थर-थर काँप रही थी।

"रूपा!" उसके आन्दोलित हृदय का सारा रोष, सारी अवहेलना, सारी घृणा, सारी वेदना, मानो इस एक शब्द में अंतर्हित हो गई थी।

झपट कर रूपा धीरू के पैर से लिपट गई, और फूट-फूट कर रोने लगी।

"पैर छोड़ दे। अब रोने से क्या होगा? मेरे कलेजे में तो तूने घाव कर ही दिया!"

रूपा ने पैर न छोड़ा, और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

"रूपा, देख, अब पैर छोड़ दे!" जेब में पड़ी हुई छुरी ने सहसा अँगड़ाई ली।

पैर छोड़ कर, पचास हट कर, रूपा सिर झुकाये हुये आँसू बहाने लगी।

"तूने ऐसा क्यों किया रे ? क्या मैं मर गया था ?"

रूपा कुछ न बोल सकी। हृदयकाश में घटाएँ अति तीव्र वेग से उमड़ने लगीं। अश्रु वृष्टि और बढ़ गई।

"बोलती क्यों नहीं रे ? जबान क्या कट गई है ?"

चुप रहना अब उचित न था। रूपा ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"अगर मैं...मैं ऐसा न करती...तो मुझे बज़ार में बैठना पड़ता ! इज्जत बचाने का...और कोई...उपाय न था !"

नशे में चूर शराबी के ऊपर घड़ों जल पड़ गया ! जेब में पड़ा हुआ हाथ बाहर निकल आया। बौद्ध मंत्र मुग्ध सा खड़ा रह गया। उसकी आँखों के सामने से एक परदा-सा हट गया।

उसकी आँखें सहसा खटोले पर सोते हुए शिशु की ओर गईं। वह स्वप्न देखता हुआ मुस्करा रहा था। उदासीन संध्या की भाँति उसका हृदय भी मुस्कराने लगा ! जो सुख का अधिकारी नहीं, उसे [illegible] उसे हस्तक्षेप [illegible] था, जिसने [illegible] थी। उसने उसके साथ विश्वासघात अवश्य किया। रूपा ने भी उसे धोखा दिया। इन दोनों से बदला लेने के विचार से ही वह यहाँ आया था, किन्तु प्रतिकार अब उचित न जान पड़ा। छुरी सरक कर रह गई।

पके-अधपके बालों से घिरे हुए अधेड़ रूपा के विषादपूर्ण मुखमण्डल की ओर एक बार देख कर, मुड़ कर, वह दरवाज़े की ओर चला।

"ठहरो, कहाँ जा रहे हो ?"

वह शीघ्रता से बाहर निकल गया। दरवाज़े के पास जाकर, रूपा आँसू बहाती हुई उस ओर तेज़ी से जाते हुए अपने भूतपूर्व पति की ओर देखती रह गई। उसकी आँखें रो रही थीं, हृदय भी रो रहा था। उसका वह खोया हुआ, सुन्दर, मनोमुग्धकारी अतीत मूर्तिमान होकर आज यों अनायास ही उसके जीवन में आकर चला जा रहा था। फिर उसका हृदय क्यों न रोता !

(५)

उपर्युक्त घटना के पाँच दिन बाद की बात है। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट

के इजलास में बीरू, हथकड़ी पहिने, सिर झुकाये, कटघरे में खड़ा हुआ था। उसके चेहरे पर शांति व्यक्त थी, प्रसन्नता भी।

अभियोग-पत्र सुन कर अदालत ने सवाल किया—"तुमने चोरी की है ? जुर्म तसलीम करते हो ?"

"जी हाँ, हुजूर !"—अभियुक्त ने सिर झुका कर कहा।

"तुमने चोरी क्यों की ?"

बीरू चुपचाप खड़ा रहा।

"अभी हाल ही में, तुम दस बरस की सजा काट कर छूटे हो ?"

"जी हाँ, हुजूर !"

"तुम्हें और कुछ कहना है ?"

"जी नहीं !"

ज़ाब्ते की सारी कार्यवाही शीघ्र ही समाप्त हो गई। सरकारी गवाहों से बीरू ने जिरह नहीं की। उसकी ओर से न कोई गवाह था, न वकील। अदालत से भी उसने वकील की दरख्वास्त न की। आध-घंटे में अदालत ने तजवीज़ सुना दी। अभियुक्त को ढाई वर्ष की सख्त सज़ा मिली। कटघरे से उतर कर, सिपाहियों से घिरा हुआ, बीरू खुश-खुश बाहर निकला।

संध्या के समय जब वह अन्य क़ैदियों के साथ जेल पहुँचा और जेलर के सामने पेश हुआ, तो जेलर साहब के आश्चर्य का ठिकाना न था।

"बीरू !"

"हुजूर !"

"तुम यहाँ फिर आ गये ?"

"हुजूर की खिदमत करने के लिये !"

"मेरी खिदमत के लिये तुम्हारे-जैसे दस मिल जाते !"

"नहीं, हुजूर, जैसी खिदमत आपकी मैं कर सकता हूँ, और कोई नहीं कर सकता !"

"लेकिन, तुमने तो मुझसे वादा किया था कि अमन की जिन्दगी अमर [illegible] तुमने जुर्म क्यों किया ?"

[illegible] के लिये ! हुजूर, अगर मैं बाहर रहता, तो मुझे नित्य [illegible] करना पड़ता।"

[illegible] नाम में सज़ा मिली है ?"

"जी हाँ !"

"कितना माल हाथ आया ?"

"कुछ नहीं, हुजूर। मैंने सारा माल लौटा दिया।

जेलर साहब को फिर आश्चर्य हुआ।

"अच्छा, यहाँ से जाने के बाद सारा हाल सुनाओ।"

अपनी कथा कह कर, शेरू ने जेलर के चेहरे की ओर देखा। उसकी आँखें डबडबा गई थीं। उसके प्रति उसके हृदय में सहानुभूति उमड़ रही थी।

जेलर के कमरे से निकल कर, जब उसने अहाते में प्रवेश किया, तो उसके साथी कैदी उसे देख कर स्वागत-भाव करने लगे। उस समय शेरू को ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो एक युग के बाद विदेश से घर लौटा हो। स्वतन्त्रता के संसार में वह अरमान भरा दिल ले कर गया था, लेकिन वहाँ उसके सारे अरमानों का खून हो गया। चार दिनों की यह आज़ादी पहाड़ हो गई। वह घर, जहाँ से घर की सारी विभूतियाँ उठ गई हों, घर कहलाने योग्य नहीं रह जाता! यहाँ इस परतन्त्रता में उसे वह सब मिल जायगा, जिसकी उसे आवश्यकता है। यहाँ परिश्रम है, कठिनाइयाँ भी हैं, किन्तु यहाँ वे चिन्ताएँ नहीं हैं, जिनका स्वतन्त्र संसार में उसे सामना करना पड़ा था। अन्न वस्त्र की यहाँ कमी नहीं, मनोविनोद के लिये संगी-साथी हैं, साधु हैं। हाँ, उसके प्रेमाकुल हृदय में एक ऐसा अभाव अवश्य है, जिसकी पूर्ति यहाँ नहीं हो सकती। लेकिन जाने दो उसकी बात! वह तो याद करने के योग्य नहीं, उसकी बात चला कर क्या होगा? चिता जल कर राख हो गई! अब खाक उड़ाने से क्या मिलेगा?

चार दिन का सुख

मालती फूलों के बीच रहती थी, और फूलों-सी सुन्दर थी। उसके मँझोले, सुगठित शरीर में बेला की-सी मधुर सफ़ेदी थी, कपोलों में गुलाब की सी अरुणाई, और आँखों में उस सुन्दर सरोवर की-सी गहराई, जिसमें कमल खिलखिला रहे हों! यौवन चम्पक की भीनी सुगन्ध की भाँति उसके उस लावण्यमय शरीर में अद्भुत मादकता भर रहा था। वह अपना मूल्य जानती थी, किन्तु संसार को भी पहिचानती थी।

बूढ़ी माँ के अतिरिक्त उसके कोई न था। फूलों का एक छोटा-सा बाग उन दोनों की जीविका का साधन था। मुहल्ले के रसिकों की सतृष्ण दृष्टियाँ मालती पर पड़ती थीं, किन्तु उसके पास उनके लिए उपेक्षा के सिवाय कुछ न था। ऐसी परिस्थिति में पड़ी हुई नवयुवती के लिये उपेक्षा अमूल्य कवच है। लेकिन मनुष्य जब हार जाता है, तो उपेक्षा के भाव का भी अन्त हो कर ही रहता है।

वह दुर्दिन या सुदिन आ ही पहुँचा। श्रावण का मधुर मास था, सवेरे का सुहावना समय। आकाश में घटाएँ झूम रही थीं। अपने बाग में मालती फूल चुन रही थी, और गुनगुना रही थी अपनी एक प्रिय कजली—'बाजी, बाजी, बंसी बाजी मधुवन के कुंजन में ना।', लालित्य-पूर्ण स्वर-लहरियाँ, मन्द, मधुर समीर से हिल-मिल कर, मदमत्त भ्रमरों की गुन-गुनाहट की भाँति, फूलों से अठखेलियाँ करने लगीं! अंतरा आया—'गूँज उठी चहुँ ओर मधुर ध्वनि, वन कन कन में ना—बाजी०'

उस समय ऐसा जान पड़ने लगा, मानो अतीत के वक्ष से निकल कर मधुवन में फूँकनेवाली नटवर मोहन की वह जादूभरी बंसी मालती के उस छोटे से बाग़ में सुधा-वर्षा करने लगी हो। डलिया में बेला, चमेली और गुलाब के फूलों का ढेर लग गया था। उधर लगी हुई कटैल की झाड़ी की ओर वह चली। एकाएक सामने कच्ची सड़क की ओर उसकी दृष्टि गई। गुनगुनाना बन्द हो गया, पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। एक स्वरूपवान युवक मंत्रमुग्ध-सा खड़ा हुआ

उसकी ओर देख रहा था। वह भी उसे एकटक देखने लगी। सहसा दलदल में पैर पड़ जाने पर मनुष्य आश्चर्य से चौंक पड़ता है, और अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान उसे तब होता है, जब उसके पैर धँसने लगते हैं। युवक मुस्कराया। चेतना लौट आई। मालती की आँखें झुक गईं। किसी तरह वह झाड़ी की ओर बढ़ी। कच्ची, नीची दीवार फाँद कर युवक बाग में आ गया, और उसकी ओर बढ़ा। समीप पहुँच कर, रुक कर, मुस्कराते हुए उसने कहा—"तुम क्या फूल बेचती हो?"

वह संकोच में पड़ गई, कुछ कह न सकी। युवक को किंचित् अवहेलना का अनुभव हुआ। शिकायत भरे स्वर में वह बोला—"उत्तर दे देने में कोई हर्ज है?"

"नहीं तो," विवश हो कर उसे बोलना पड़ा।

"यह बाग तुम्हारा ही है?"

"हाँ।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

बाग के एक कोने में बने हुए झोंपड़े की ओर मालती ने हाथ उठा कर संकेत किया।

"माँ बाप हैं?"

"सिर्फ माँ है।"

"रोज़ी कैसे चलती है? फूलों से?"

"यह सब पूछ कर आप क्या करेंगे?"

"कुछ नहीं। यों ही पूछ रहा था, माफ करो।"

गम्भीर हो कर, वह ज़मीन की ओर ताकने लगा। मालती ने उस के चेहरे की ओर देखा। दिल-भर ठेस लगी। वह बोली—"फूल और हार बेच कर ही हमारी रोज़ी चलती है।"

युवक का मुख-मण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। असीम अनुरोध-भरे स्वर में वह बोला—"एक हार मेरे लिए बना दोगी?"

"इस वक्त नहीं। काफ़ी समय लगेगा।"

"कब तक बन जायगा?"

"शाम तक।"

"अच्छी बात है। मैं शाम को हार लेने के लिए आऊँगा। बना रखना।"

"बहुत अच्छा।"

"एक बात और बता दो। तुम्हारा नाम क्या है?"

"मालती।"

"अच्छा, मालती, जाता हूँ। मेरे कारण तुम्हारे काम में हर्ज हुआ है, माफ़ करना।"

जमीन की ओर ताकती हुई, पैर के अँगूठे से मिट्टी कुरेदती हुई, वह खड़ी रही। मुड़ कर वह चला गया। जब तक वह दिखाई देता रहा, वह उसकी ओर ताकती हुई खड़ी रही। जब वह बाग़ के बाहर निकल गया, तो एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, फूल तोड़ने के लिए उसने हाथ उठाया, किन्तु वह तोड़ न सकी। फूल छूट कर, मानो उसका उपहास करता हुआ, झूमने लगा। हाथ नीचे गिर गया। वह चौंक पड़ी। कोई सुन्दर स्वप्न देखते-देखते जाग पड़ने पर मनुष्य की जैसी दशा हो जाती है, उस समय उसकी भी वैसी ही दशा हो गई थी!

प्रयत्न करके भी वह अपने को रोक न सकी। टूटे हुए सुन्दर स्वप्न को फिर देखने के लिए जगा हुआ मनुष्य आँखें बन्द करके सोने की चेष्टा करता है! विवश हो कर, वह चहारदीवारी की ओर चली। समीप पहुँच कर, चहारदीवारी से सट कर, वह बाहर इधर-उधर देखने लगी। उधर जहाँ कच्ची सड़क पक्की सड़क से मिली थी, पक्की सड़क पर खड़ी हुई मोटर की ओर वह युवक धीरे-धीरे चला जा रहा था। पास पहुँच कर, मुड़ कर, एक बार बाग़ की ओर देख कर, वह मोटर में बैठ गया। मोटर चल पड़ी, और अदृश्य हो गई। स्वप्न फिर टूट गया। फूलों से भरी डलिया कमर से सरक कर, हाथ से छूट कर, गिर पड़ा।

फूल घास पर बिखर कर खिलखिलाने लगे। किन्तु उसने उन्हें उठाने की चेष्टा न की। एक लम्बी साँस खींच कर वह जमीन पर अस्त-व्यस्त बैठ गई, और शून्य दृष्टि से सामने ताकने लगी। कितने ही परिचित युवक आये, और मुँह की खाकर चले गए; किन्तु आज एक अपरिचित आया, और उसे इस तरह आन्दोलित कर गया! उसमें ऐसी कौन-सी बात थी, जिसने उसे उसकी दृष्टि में इतने ऊँचे आसन पर बैठा दिया? रूप? नहीं, नहीं! स्वभाव? नहीं, नहीं! चरित्र? इसके बारे में अभी वह क्या जानती है? जो हो, कोई ऐसी चीज़ ज़रूर है, जो उसके हा [illegible] के शरीर में उसी तरह निवास करती है, जैसे फूल में [illegible]

"मालती ! ओ मालती !" झोंपड़े से आवाज़ आई।

वह चौंक पड़ी। अर्द्ध चेतना की दशा भंग हो गई।

"आती हूँ, अम्माँ !" उसने चिल्ला कर उत्तर दिया।

"जल्दी चल !"

"अच्छा !"

अर्धांश-निद्रा जाग्रत हो गई। सँभल कर, वह बिखरे हुए फूलों को एकत्र करने और डलिया में भरने लगी। फिर फूलों से भरी हुई डलिया ले कर वह झोंपड़े की ओर तेज़ी से चली।

घर के दरवाज़े पर खड़ी हुई बूढ़ा अम्मी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

"इतने से फूल चुनने में इतनी देर लग गई !"

"देर हो गई, तो क्या करूँ ! काम ही तो कर रही थी।"

"जब मैं तेरी उमिर की थी, तो पाँच मिनट में डलिया भर लेती थी। लेकिन तुझे घंटों लग जाते हैं !"

"आजकल कलयुग जो लग गया है, माँ !" मुस्करा कर मालती बोली।

"बस, बस, कलयुग की नानी ! सारा काम धंधा अभी पड़ा है, और तुझे मसखरी सूझी है !"

"अभी मिनटों में सारा काम किये डालती हूँ, अम्माँ ! तुम देखती तो रहो।"

"ज़रूर कर डालेगी। तू इसी लायक़ होती, तो मुझे क्यों खीजना पड़ता ?"

हँस कर मालती भीतर भाग गई। अम्मी मुँह बनाए हुए दरवाज़े पर बैठ गई। डलिया एक ओर रख कर, वह झाड़ू ले कर जुट गई। देखते देखते कोठरियाँ चमकने लगीं। अम्मी का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। उठ कर भीतर गई, और रात के जूठे बरतन उठा कर बाहर लाने लगी।

"रहने दो, माँ, मैं अभी माँज डालूँगी।"

"तुम तो झाड़ू लगा रही हो, बिटिया। एक काम तो कर डालो पहले।"

"उसे भी कर डालूँगी।"

"नहीं, बिटिया, नहीं। मुझे भी तो कुछ करना चाहिए।"

बाहर बैठ कर बूढ़ा बरतन मलने लगी। झाड़ू-बुहारू से छुट्टी पाकर

कुएँ से एक डोल पानी खींच कर, मालती भी उसको सहायता करने आ पहुँची।

बरतनों की सफ़ाई की महत्त्वपूर्ण क्रिया सम्पादित हो गई। मालती हार गूँथने लगी, वृद्धा चावल बीनने।

एक-एक फूल सावधानी से उठा कर वह धागे में इस तरह पिरो रही थी, मानो कोई सिद्धहस्त कारीगर स्वर्ण-आभूषण में नगीने जड़ रहा हो! क्रमशः चतुर हाथ मानो बिना उसके प्रयास अथवा आदेश के स्वयं चलने लगे, और उसके सामने अभी थोड़ी ही देर पहले का दृश्य आ उपस्थित हुआ। आज अनायास ही जिन मधुर-कटु भावों का सूत्रपात हुआ था, वे ही उसके हृदय में हिलोरें लेने लगे।

घंटे पर घंटा बीतने लगे। हार-रचना की क्रिया सुव्यवस्थित गति से चलती रही। एक बज गया। कुएँ पर नहा कर वृद्धा घर लौट आई।

"इतना बड़ा हार किसके लिए बना रही हो, बिटिया! पैसे-दो पैसे वाले तो बहुत बिकते हैं, लेकिन इतना बड़ा आसानी से नहीं बिकता।"

"बना जाता है, सो बिक भी जायगा।"

"रोटी नहीं बनाओगी?"

"तुम चूल्हा जलाओ, अम्माँ। मैं अभी आती हूँ।"

"अच्छा।"

अम्माँ दूसरी कोठरी में चली गईं। फिर वही तन्मयता आ गई, कल्पना की वही चित्रकारी आरम्भ हो गई। अपनी तन्मयता की सारी शक्ति, भावों का सारा माधुर्य, कल्पना की भरी रंगीनी मानो वह हार में भरे दे रही थी। आध-घंटा बीत गया।

"मैं रोटी बना रही हूँ," वृद्धा ने चिल्ला कर कहा—"जल्दी आ कर नहा आओ, बिटिया!"

"अच्छा, अम्माँ।"

हार करीब-करीब बन गया था, दस मिनट का काम बाकी था। वह भी हो गया। तब उसने संतोष की साँस ली। तर कपड़े में उसे सावधानी से लपेट कर रख कर, वह उठी, और लोटा, डोल और धोती ले कर कुएँ की ओर चली गई।

खाना-पीना समाप्त हो जाने के बाद वृद्धा ने कहा—"थोड़े से छोटे-छोटे हार भी [illegible] बिटिया।"

[illegible] "[illegible]ती।"

"अगर मेरा हार न बिका तो क्या होगा ?"

"अब न बिकेगा, तो देखा जायगा।"

"देखा जायगा ! तेरी यह आदत मुझे अच्छी नहीं लगती। भगवान की कृपा से अभी मेरे हाथ-पैर चलते हैं। मैं कुछ गेंदों हार बना सकती हूँ। मुझे क्या परवाह है ?" टोकरी ले कर वह कुछ हार बनाने लगी।

मालती हँसने लगी। फिर वह भी हार बनाने लगी। न जाने क्यों यह उसकी इच्छा के विरुद्ध था, किन्तु माँ की इच्छा के सामने अपनी अनिच्छा को दबा देना ही उचित जान पड़ा।

पाँच बज गए। प्रतीक्षा का एक एक पल खटकने लगा। वह आयेगा कि नहीं ? शायद हाँ, शायद नहीं। लेकिन वह भूला तो नहीं जान पड़ता था। अम्मा हार बेचने के लिए बाजार जाने की तैयारी करने लगी।

"अभी तो बहुत धूप है, अम्मा।"

"तिरछी धूप नीम की चोटी तक तो चली गई। बहुत कहाँ है ?"

"थोड़ी देर और ठहर जाओ।"

"अच्छा !" चादर खूँटी पर टाँग कर वह बैठ गई।

दो-तीन पल बाद ही युवक दरवाजे के सामने आ खड़ा हुआ। मालती के चेहरे से नैराश्य की छाया उठ गई, मानो चन्द्रमा पर छाया हुआ बादल हट गया हो। उसकी आँखें उठीं, युवक की आँखों से मिलीं और सन्तोष प्रकट करके झुक गईं।

"क्या चाहिये, बाबूजी ?" वृद्धा ने पूछा।

"एक हार।"

"अच्छा, अन्दर आ जाओ।"

चप्पलें उतार कर, उसने झोंपड़े में प्रवेश किया। उसने शायद अपनी माता से कुछ नहीं कहा। वृद्धा ने डलिया पर पड़ा हुआ कपड़ा हटा दिया। सबसे ऊपर बेला और गुलाब के फूलों का बड़ा सुन्दर हार रखा हुआ था, जिसके बनाने में मालती ने अपनी सम्पूर्ण निपुणता लगा दी थी। झुक कर युवक ने उसे उठा लिया, और मुस्कराता हुआ मंत्र मुग्ध दृष्टि से देखने लगा।

"बड़ा सुन्दर हार है !"

"हाँ, बाबू, इसे बनाने में कई घंटे लगे हैं। जिसे दोगे, निहाल हो जायगा।"

"देना तो किसी को नहीं है, अपने लिए ही चाहता हूँ।"

"ले लो, बाबू। आठ आने का है।"

चेस्ट-कोट की जेब में उसका हाथ पहले ही पहुँच गया था। दाम देने के लिए वह झुका। वृद्धा की फैली हुई हथेली में धीरे से खनक कर दो नए रुपये चमकने लगे। उसकी आँखें खिल गईं, और वह आश्चर्य से चकित रह गई।

"हार तो, भइया, आठ आने ही का है!"

"मैं तो इसे दो रुपये से कम का नहीं समझता!" मुस्करा कर, युवक ने उत्तर दिया—"ले लो, माई, आए हुए माल को हाथ से न जाने देना चाहिए।"

"जैसी तुम्हारी मर्जी हो, भइया। खुश रहो। बड़े आदमी ऐसे ही होते हैं। ये हार भी ले लो, भइया।" डलिया में बाकी बचे हुए हार उठा कर वह उसे देने लगी।

"नहीं, मेरे लिए एक बहुत है।"

"नहीं, नहीं, ले लो।"

"अच्छा, लाओ!" हार लेकर, उसने फिर जेब में हाथ डाला।

"नहीं, भइया, अब मैं कुछ न लूँगी। चौगुना तो पहले ही दे चुके हो। और ये हैं भी कितने के? चार आने से ज्यादा के नहीं।"

"मेरे लिए एक हार रोज बनवा दिया करो, माई।"

"बहुत अच्छा, भइया।"

"तैयार रखना। मैं कल इसी वक्त आऊँगा।"

"जरूर आना, तैयार रहेगा। बड़े दयावान हो, खुश रहो!"

मनोभावों से आन्दोलित, घुटनों को हाथों से कसे हुए, जमीन की ओर ताकती हुई मालती बैठी थी। उसकी ओर एक बार विविध भावनाओं से भरी हुई दृष्टि से देख कर, वह चला गया।

(२)

नियमित रूप से नित्य वह हार लेने आने लगा। और वह जब आता, तो मालती या उसकी अम्मा के लिए कोई न कोई उपहार अवश्य लाता। यथेष्ट घनिष्ठता हो गई थी। किन्तु वह बात जो उसके मन में सब से ऊपर थी, अभी तक व्यक्त नहीं हो सकी थी। इसका कारण था—अवसर

का अभाव। वह सब जानता, उसकी अवश्य उपस्थित रहती। और कदाचित् मालती उसे अच्छा भी लगने लगी थी। वह स्वस्थ था, किन्तु मालती से काम लेना चाहता था।

एक दिन वह सवेरे ही जा पहुँचा, ठीक उस समय जब मालती बाग में फूल चुना करती थी। उसने देखा, मालती फूल तोड़ने में लगी थी। किन्तु आज चहारदीवारी फाँद कर बाग में जाना या उसे आवाज़ देना नीति के विरुद्ध था। झोंपड़े के सामने आकर उसने देखा, दरवाज़े पर ताला लगा था।

तब वह उस ओर गया जहाँ मालती काम में लगी थी। मुड़ कर उसकी ओर देख कर, ठंडी निःश्वास खींच कर, वह फिर फूल तोड़ने लगी। बिना देखे ही उसे ज्ञात हुआ, वह समीप आकर खड़ा हो गया। मालती के शरीर में विचित्र सनसनाहट दौड़ने लगी।

"मालती!"

"हाँ!"

"माई कहाँ है?"

"एक रिश्तेदार के घर गई है।"

अब क्या कहना चाहिए, यह सोचता हुआ वह खड़ा रहा। एक क्षण में उसकी कठिनाई हल हो गई। एकाएक मुड़ कर, उसके चेहरे की ओर देख कर, वह बोली "एक बात आप से पूछूँ?"

"पूछो।"

"आप यहाँ क्यों आते हैं?"

दो-तीन क्षण सोच कर, उसने मुस्कराते हुए कहा—"हार लेने के लिए।"

"क्या सचमुच हार लेने ही के लिए?"

"तुम क्या समझती हो?"

"मैं तो आप से पूछ रही हूँ।"

"मालती, क्या तुम्हें सचमुच मेरे आने का असली कारण अभी तक नहीं मालूम हुआ?"

मालती के ओठों पर मुस्कान व्यक्त हो गई। किन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया, ज़मीन की ओर ताकती हुई चुपचाप खड़ी रही।

"अगर मैं साफ़-साफ़ बता दूँ, तो तुम बुरा तो नहीं मानोगी?"

"बुरा... क्यों... मानूँगी?"

"मैं यहाँ आता हूँ...तुम्हें देखने के लिये, तुमसे दो बातें करने के लिए !"

वह निस्तब्ध खड़ी रही।

"और मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, सच्चे दिल से प्यार करता हूँ !"

वह सिहर उठी। अथाह उल्लास उसके कण कण में तीव्र गति से आन्दोलन करने लगा। उसकी आँखें उठीं, और युवक की आँखों से मिलीं। उनमें आत्म-समर्पण अंकित था। झपट कर युवक ने उसे कर-पाश में बाँध लिया।

थोड़ी देर के बाद वे दोनों एक पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। मालती का हाथ अपने हाथ में लेकर युवक ने कहा—"मेरे साथ ब्याह करोगी, मालती ?"

"क्यों न करूँगी ? लेकिन.. माँ..."

"उसे मैं राजी कर लूँगा।"

"अगर वह राजी न हुई, तो ?"

"मालती ! प्रेम के मामले में क्या किसी की रोक-टोक चल सकती है ?"

"नहीं !"

"फिर क्या डर है ? लेकिन मुझे पूरी उम्मीद है कि माई ज़रूर राज़ी हो जायगी।"

"सच, ठीक है।"

"वह कब तक आवेगी ?"

"दोपहर तक आ जायगी।"

"अच्छा, मैं दो-तीन बजे तक आकर कोशिश करूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

कुछ देर के बाद विजयोल्लास से झूमता हुआ वह चला गया।

चार बजे के क़रीब वह फिर आया। अम्मा और मालती हार बनाने में लगी हुई थीं। प्रसन्नता से सिर हिलाते हुए अम्मा ने कहा—"आओ, भ‌ैया आओ। तुम्हारा हार तैयार हो गया है।"

मालती ने उठ कर चटाई बिछा दी। युवक इत्मीनान से बैठ गया। मालती घर से बाहर चली गई। वह मुस्कराता हुआ बोला—"यहाँ जब आता हूँ, माई, तो मेरा चित्त प्रसन्न हो जाता है। जान पड़ता है, जैसे अपने घर में

"मालती को मैं सगी बेटी से अधिक मानती हूँ, लेकिन तुम्हें भी उससे कम नहीं समझती। हर दम तुम्हारा ख्याल बना रहता है।"

"मालती क्या तुम्हारी सगी बेटी नहीं है?" उसने चकित होकर पूछा।

"जल्दी में तो नहीं हो?"

"नहीं, मुझे कहीं जाना नहीं है।"

"अच्छा, तो तुम्हें आज सारा हाल कह सुनाऊँगी। अभी तक किसी से नहीं कहा था, लेकिन तुमसे कहने में कोई हर्ज नहीं है। कई दिन से कहने की बात सोच रही थी।"

"ज़रूर सुनाओ, माई! मैं भी आज तुमसे बातें करने ही के लिए आया हूँ।"

"अच्छा सुनो। मालती मेरे पेट की जन्मी नहीं है। उन दिनों अपने आदमी के साथ मैं एक दूसरे शहर में रहती थी। बड़े कष्ट से हमारे दिन बीत रहे थे। हम दोनों बड़ी मेहनत करते थे। फिर भी कर्ज़ का बोझ हमेशा सिर पर चढ़ा रहता था। कोई सन्तान भी न थी। इसका दुःख अलग था। हमारे पड़ोस में एक बाबू साहब रहते थे। बड़े भले आदमी थे। उनके घर मैं फूल देने आया करती थी। एक दिन रात के समय वह हमारे यहाँ आये। बहुत घबराये हुए थे। मेरे आदमी ने कारण पूछा, तो बोले—'मैं बड़ी आफ़त में हूँ। मेरी सहायता करोगे?' मेरे आदमी ने कहा—'आपकी मदद कर सकूँगा, तो ज़रूर करूँगा, बाबूजी।' तब बाबू साहब बोले—'अच्छा यह वादा तो कर ही दो कि इस वक्त की बातें कभी किसी से न कहोगे।' आश्वासन पाकर, उन्होंने कहा—'मैं जानता हूँ कि निस्सन्तान होने का तुम्हें बहुत दुःख है और पैसे की भी तुम्हें तंगी रहती है। मैं तुम्हें दोनों भेंट करना चाहता हूँ। अभी दो तीन ही दिन की जन्मी एक लड़की है। बड़ी सुन्दर है, और भले आदमियों की बेटी है। उनके माता पिता का नाम मैं न बताऊँगा, क्योंकि यह इज़्ज़त का मामला है; लेकिन विश्वास रखो, वे तुमसे उसे कभी छीनने की कोशिश न करेंगे। उसे लेकर अपनी बेटी की तरह पालो-पोसो। इसके लिए जितना रुपया कहो, देने को तैयार हूँ। हाँ, एक बात और है, यह शहर छोड़ कर तुम्हें चले जाना होगा, क्योंकि तुम्हारे यहाँ रहने से भेद खुल जाने का डर है। बोलो, क्या कहते हो?'

"अन्धे को क्या चाहिये? दो आँखें! सन्तान भी मिलेगी, धन भी

मिलेगा ! बस, हम तुरन्त राज़ी हो गए। क़र्ज़ बेबाक करके, दूसरे ही दिन, रात के समय उस लड़की को लेकर हम इस शहर में चले आये, और यह बाग़ ख़रीद कर बस गए। मज़े में ज़िन्दगी कटने लगी। सचमुच वह लड़की चाँद-सी सुन्दर थी। उसे हम जी-जान से प्यार करने लगे। दूज का चाँद जैसे नित्य निखरता हुआ बढ़ता है, वह भी वैसे ही बड़ी होने लगी ! जब वह दस साल की हुई, तो मेरे आदमी का देहान्त हो गया। तब से उसके पालन का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। घर के काम-धन्धे, सीना-पिरोना, काढ़ना जो कुछ मुझसे बन पड़ा, मैंने उसे सिखाया। कई साल तक स्कूल भी भेजता रहा। वह कोई और नहीं मालती ही है।"

युवक ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा।

"मालती सयानी हो गई है। अब इस फ़िक्र में हूँ कि कोई योग्य घर मिल जाय, तो इसकी शादी कर दूँ। तुम्हारी जान-पहिचान तो बहुत लोगों से होगी। किसी भले आदमी का इसके लायक़ लड़का हो, तो बताना।"

"बहुत लड़के हैं।"

"कौन हैं ? कहाँ रहते हैं ?"

"एक तो तुम्हारे सामने ही बैठा है," उसने सिर झुका कर कहा।

"अरे तुम ? तुम्हारे साथ मालती का ब्याह हो जाय, तो इससे बढ़ कर क्या बात हो सकती है ? लेकिन, तुम्हारे माँ-बाप तो शायद इस तरह से जन्मी हुई लड़की के साथ तुम्हारी शादी करने को राज़ी न होंगे ?"

"मेरे माँ-बाप नहीं हैं। मैं अपना मालिक ख़ुद हूँ। मालती के साथ मेरी शादी कर दोगी, तो अपने को बड़ा भाग्यवान समझूँगा !"

"ज़रूर करूँगी, भइया, ज़रूर करूँगी ! मालती की ज़िन्दगी बन जायगी, और मैं भी अपने को धन्य समझूँगी।"

थोड़ी देर में विवाह-सम्बन्धी सारी बातें पक्की हो गईं। भावी ससुराल से जब वह विदा हुआ, तो उसके पैर ज़मीन पर न पड़ते थे।

× × ×

अत्यन्त गुप्त रीति से मालती का रतनचन्द के साथ विवाह हो गया। झोंपड़े से मालती महल में जा पहुँची। लाली ने पहले तो अपना घर छोड़ने से इनकार किया, किन्तु रतन के कार्य-क्रम के ज़िक्र

उसका अपनी बेगी के साथ रहना आवश्यक था। इसलिए मजबूर हो कर, उसे उसके साथ जाना ही पड़ा।

रतन धनवान था। एक सेठ का बेटा था। पुश्तैनी और चलता हुआ कारबार था, बहुत बड़ी ज़मींदारी थी, पचासों बँगले थे। मालती के लिए बँगला सज गया, नौकर लग गए, एक मोटर हर समय हाज़िर रहने लगी, वस्त्र आभूषणों का ढेर लग गया। इन सब को उसने इस तरह अपना लिया, मानो वह इनकी सदा से स्वामिनी रही हो!

मालती और रतन के लिए स्वप्न के एक छोटे-से संसार की सृष्टि हो गई। दोनों एक-दूसरे में रमने लगे। सैर-सपाटा, सिनेमा, जल विहार, मनोरंजन का नित्य नया साधन खोजा जाने लगा। आनन्द की सीमा न थी—अथाह, अपार, अनिर्वचनीय!

किन्तु उत्थान की चोटी पर पहुँच जाने पर पतन का आरम्भ होना अनिवार्य है।

(२)

ऐसी बात छिपाए नहीं छिपती। जगह जगह चर्चा होने लगी, तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ने लगीं। यार दोस्त मज़ाक उड़ाने लगे, आत्मीय हितैषी चिन्तित हो उठे। सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए रतन को समझाया बुझाया जाने लगा, किन्तु वह कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुआ।

रात का तीसरा पहर था। दोनों प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थे। एकाएक मालती चौंक पड़ी। रतन की आँखें तुरन्त खुल गईं। चिन्तित स्वर में उसने पूछा—"क्या बात है, मालती?"

मालती का हृदय ज़ोरों से धड़क रहा था। दो-तीन क्षण के बाद उसने कहा—"एक ख़राब सपना देख रही थी।"

हृदय से लगा कर, वह उसे शान्त करने की चेष्टा करने लगा। जब वह काफ़ी शान्त हो गई, तो रतन ने पूछा—"क्या देखा था तुमने?"

"मैंने देखा कि एक कमरे में मैं अकेली बैठी हूँ। सहसा एक भयंकर सूरत वाला आदमी कमरे में घुस आया। उसे देख कर मैं डर गई। वह मुझे पकड़ने के लिए झपटा। मैं चीख़ कर भागी। बस मेरी नींद टूट गई।"

"अजीब सपना था! ख़ैर, कोई बात नहीं है। सपने तो दिखाई

"मैं तुम्हारी सौत हूँ !"

"सौत !" वह चकित रह गई।

"हाँ, बहिन, तुम्हारी सौत हूँ। उन से मेरी शादी पहले हो गई थी। यह कथा भी दुःखदायी ही है ?"

मालती को ऐसा भास पड़ने लगा, मानो वह चेतनाशून्य हो रही हो।

"तुम्हारे स्वभाव की तारीफ़ मैं बहुत सुन चुकी हूँ, इसलिए तुम से एक विनती करने आई हूँ।"

मालती निस्तब्ध बैठी रही।

"तुम्हारे साथ ब्याह करने की बात सब लोगों को मालूम हो गई है। उनकी बड़ी बदनामी हो रही है। बिरादरी वाले बिरादरी से खारिज कर देने की धमकी दे रहे हैं। लेकिन वह डर जाने वाले आदमी नहीं हैं, बरसों धुन के पक्के हैं। वह तो टस से मस नहीं होंगे, किन्तु तुम चाहो, तो आने वाले अपमान से हमारी रक्षा कर सकती हो।"

"किस तरह, बहिन ?"

"उन्हें छोड़ कर तुम कहीं चली जाओ। जितना धन कहो मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ। मेरा कहना मान कर तुम हमारा महान् उपकार करोगी।"

मालती मूर्तिवत् बैठी रही।

"बोलो, बहिन, क्या जवाब देती हो ?"

"जवाब आपको मिल जायगा।"

"कब तक ?"

"बहुत जल्द।"

"अच्छा, बहिन, अब मैं जाती हूँ। डर है कि कहीं वह आ न जायँ। मेरे यहाँ आने की बात उन्हें न बतलाना।"

"अच्छा, बहिन।"

दोनों उठ खड़ी हुईं। फिर मालती से गले मिल कर, वह चली गई।

जड़ कटे हुए वृक्ष की भाँति मालती सोफे पर गिर पड़ी। सद्गुणों का आगार समझ कर जिस मूर्ति की वह पूजा करने लगी थी, आज वह इस तरह गिर कर चूर-चूर हो गई। झूठा! दगाबाज़! स्वार्थी! आह! कौन जानता था कि रत्न की तरह चमकने वाली यह चीज़ रत्न

नहीं, एक मामूली पत्थर है ! क्रोध से उसका शरीर काँपने लगा। फिर वह रोने लगी—फूट-फूट कर रोने लगी, अपने दुर्भाग्य पर, अपनी असहायता पर।

उर-देश में उठे हुए तूफ़ान का वेग जब कम हो गया, तो वह आँखें पोंछ कर उठ बैठी। स्वभाव-निहित उसकी उदारता फिर जाग्रत हो गई। दूसरे पहलू से वह विचार करने लगी। रतन के स्थान पर, यदि वह ख़ुद होती, तो क्या यही न करती ? ज़रूर करती। शायद न करती। शायद करती। मोहवश यदि ऐसा अपराध हो जाय, तो क्या वह क्षम्य नहीं है ? अवश्य है। फिर सौत की छाया-मूर्ति सामने आ कर खड़ी हो गई। अपार अनुरोध-भरा था उसकी आँखों में। और उसकी गोद का वह नन्हा-सा बालक भी मानो माता के प्रस्ताव का समर्थन कर रहा था।

उठ कर, गुसलख़ाने में जा कर उसने मुँह धोया। फिर शयनागार में जा कर वह पलंग पर लेट गई, और गहन विचारों में खो गई। सहसा रतन ने प्रवेश किया। चौंक कर वह उठ बैठी। पलंग के समीप आ कर, रतन ने चिन्तित स्वर में पूछा"—कैसी तबीयत है ?"

"ठीक है।"

"चेहरा क्यों उतरा हुआ है ?"

"सिर में कुछ दर्द है।"

"केफ़िएस्प्रीन खाया था ?"

"नहीं।"

"खा लो। थोड़ी देर के बाद दर्द जाता रहेगा।"

"अच्छा।"

पलंग पर बैठ कर उसने पूछा—"कहीं घूमने चलोगी ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"आराम करने की ज़रूरत है।"

कई क्षण दोनों निस्तब्ध रहे। फिर मालती ने पूछा—"कहीं जाना चाहते हो ?"

"कई दोस्त सिनेमा चलने के लिए ज़िद कर रहे हैं।"

"तो चले जाओ।"

"नहीं, अब न जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है।"

"अभी दवा खा लूँगी, तबीयत ठीक हो जायगी। वह लोग क्या कहेंगे ? चले जाओ।"

"अच्छा, जाता हूँ। दवा ज़रूर खा लेना।"

"अच्छा।"

वह चला गया। मालती फिर विचार सागर में डूब गई।

अँधेरा हो चला था। उठ कर, शयनागार से निकल कर वह सदर दरवाज़े की ओर चली। आँगन में अगों एक दासी से बातें कर रही थी।

"कहाँ जाती हो बिटिया ?"

"गंगा के किनारे।"

"क्यों ?"

"जी ऊब रहा है। ज़रा सैर करूँगी।"

"मैं भी चलूँ ?"

"तुम चल कर क्या करोगी ?"

"नहीं, मैं भी चलूँगी।"

"अच्छा, चलो।"

दोनों बाहर पहुँचीं। आज्ञा दी गई, फ़ौरन मोटर सामने आ खड़ी हुई। दोनों सवार हो गईं, मोटर चल पड़ी।

मनोहर महल में 'चण्डीदास' नामक फ़िल्म दिखाया जा रहा था। अपने मित्रों के साथ रतन अव्वल दर्जे में बैठा हुआ था। प्रकृति की एक सुन्दर क्रीड़ा-स्थली में नायिका नायक के विरह में व्याकुल घूम रही थी। सहसा रतन ने देखा, वह कुसुम-कुंज अदृश्य हो गया, नायिका अदृश्य हो गई। मालती का मुख मण्डल परदे पर अंकित हो गया। असीम व्यथा भरी आँखों से वह उसे देख रही थी। अज्ञात आशंका से वह काँप उठा। तुरन्त उठ कर बाहर चला। एक मित्र ने पूछा—"कहाँ जा रहे हो, रतन ?"

"अभी आता हूँ।"

तेज़ी से बाहर निकल कर, मोटर पर सवार हो कर, वह घर की ओर रवाना हो गया।

तट पर पहुँच कर, मोटर से उतर कर, दोनों जल की ओर चलीं। माँझी माताभीख सामने आ कर खड़ा हो गया।

"क्या हुकुम है, बहूजी ?"

"घूमना है।"

"अच्छा, बहूजी !"

उस सजी हुई नाव में दोनों आ बैठीं, जिसे रतन ने मालती के लिए ख़ास तौर से बनवाया था। माताभीख ने नाव खोल दी।

घर पहुँचते ही रतन को मालूम हुआ कि मालती अपनी माता के साथ गंगा-तट की ओर गई है। उसने शोफ़र को तुरन्त आज्ञा दी। मोटर गंगा-तट की ओर चल पड़ी।

जाह्नवी के विशाल वक्षःस्थल पर मालती की डोंगी मंद गति से चली आ रही थी। पंचमी के चंद्रमा का मन्द, रहस्यमय प्रकाश चारों ओर फैला हुआ था। गहरा जल आ गया। अम्मी रुक कर, माताभीख डाँड़ चलाने लगा। ऊपर, नीचे, चारों ओर एक बार देख कर, मुस्करा कर, मालती सहसा जल में कूद पड़ी।

"अरे बिटिया ! अरे बिटिया ?" कहती हुई अम्मी भी कूद पड़ी।

"अरे ! अरे ! अरे !" डाँड़ छोड़ कर माताभीख भी कूद पड़ा।

उसने बड़ी कोशिश की, किन्तु किसी को बचा न सका। तब हार कर, वह डोंगी में चढ़ आया और चिल्लाने लगा—"अरे, दौड़ो ! दौड़ो ! ग़ज़ब हो गया !"

"आए ! आए ! आए !" कई डोंगियाँ खुल कर तेज़ी से घटना-स्थल की ओर चलीं।

कई मल्लाह कूदे और इधर-उधर तैर कर, डुबकियाँ लगा कर, खोजने लगे, किन्तु प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ। तब एक ने कहा—"माताभीख, जा कर सेठजी को तो ख़बर दो।"

"अच्छा, अच्छा !" सत्यशील तुरन्त तट की ओर तेज़ी से चला । किनारे पहुँच कर, नाव बाँध कर, वह सड़क की ओर भागा ।

रतन की मोटर सड़क पर आ खड़ी हुई । वह तुरन्त उतर कर तट की ओर चला ।

"ग़ज़ब हो गया, सरकार ! ग़ज़ब हो गया !"

"क्या हुआ ?"

"दोनों डूब गईं !"

"कौन ? कैसे ?"

"बहूजी और माईं । एक घंटा हुआ यहाँ आईं । मुझसे घुमाने को कहा । मैं घुमा रहा था । एकाएक बहूजी जल में कूद पड़ीं । यह देख कर माईं भी कूद पड़ीं । मैं भी कूद कर खोजने लगा, लेकिन कोई नतीजा नहीं हुआ । और लोग अभी खोज रहे हैं ।"

रतन के चारों ओर अँधेरा छा गया । वह गिरा और बेहोश हो गया ।

अन्तिम चित्र

"प्यारी सुलोचना,

मानिक घर लौट आया है। हम सब तो उसकी ओर से निराश हो चुके थे। इसलिए तुम समझ सकती हो कि हमें कितनी ख़ुशी हुई है उसके वापस आने से।

वह कहता है कि एक बार तुमसे वह मिलना चाहता है—केवल एक बार। मैं समझती हूँ कि यह उसकी भूल है; लेकिन उससे मैं नहीं न कर सकी। स्वप्न-जगत् में विचरण करने ही में जो अपने अस्तित्व की सार्थकता देखता हो, उसे दुनियादार बनने की सलाह देना कोरी मूर्खता है। जो हो चुका है, वह मिट नहीं सकता, और जो हो नहीं सकता, उसकी कामना करना बेकार है। इस विकट सत्य से वह अपरिचित नहीं है। फिर भी वह उस मार्ग पर जाना चाहता है, जिस पर उसे न जाना चाहिए। किन्तु मैं उसे रोक नहीं सकती। मैं उसकी बहिन हूँ, पथ-प्रदर्शक नहीं। किसी पथ-प्रदर्शक की सेवाएँ वह स्वीकार भी नहीं कर सकता। यदि तुम इसे नितान्त अनुचित न समझो, तो उससे मिल लेना, ज़रूर मिल लेना। मैं तुम से यह अनुरोध न करती, लेकिन मानिक के प्रति मेरे हृदय में जो ममता है, उसने विवश कर दिया है मुझे। ईश्वर तुम्हारी सहायता करे, और तुम्हारा कल्याण हो!

यदि इस पत्र में कोई अनुचित बात हो, तो मुझे क्षमा करना।

सस्नेह तुम्हारी—

रामेश्वरी देवी।"

एक दीर्घ निःश्वास खींचा सुलोचना ने पत्र पढ़ कर। चित्र आने लगे उसकी आँखों के सामने—अतीत के चित्र।

दिन ढल रहा था, और वह रामेश्वरी के घर पर उसके कमरे में बैठी हुई उससे बातें कर रही थी। दोनों एक ही पाठशाला में पढ़ती थीं, दोनों में घनिष्ठता हो गई थी, और दोनों एक-दूसरे के घर आने-जाने लगी थीं। उस दिन भी अपनी इस प्रिय सखी के विशेष आग्रह पर वह गई थी उसके घर। रामेश्वरी दिखा रही थी उसे वह पुलोवर,

जिसे वह सुन रही थी उन दिनों। सहसा प्रवेश किया किसी ने कमरे में। दृष्टि उठा कर देखा उसने, और तुरन्त आँखें नीची कर लीं। एक तस्वीर उतर कर बैठ गई उसके दिल में—चमकता चप्पल, साफ़ धोती, साफ़ कुरता, लम्बा कद, खिला हुआ सुन्दर चेहरा। रुदुक गई वह।

"रामी दीदी!"

"क्या है मानिक?"

"वह...वह किताब जो मैंने तुम्हें कल दी थी, कहाँ है?"

"उस आलमारी पर है। ले लो।"

वह बढ़ा उस आलमारी की ओर।

"मानिक!"

"क्या है, दीदी?"

"देखो, यही है मेरी सखी सुलोचना, जिसका ज़िक्र तुमसे कई बार कर चुकी हूँ। सुलोचना, यही हैं मेरे छोटे भाई मानिकचन्द। बी० ए० में पढ़ रहे हैं इस साल।"

"आप से परिचित हो कर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई।" नमस्कार कर के सकुचाते हुए मानिक ने कहा।

तब लज्जा से लड़ते लड़ते हाथ जोड़ने पड़े उसे भी, लेकिन किसी तरह वह कुछ कह नहीं सकी मुख से। पुस्तक ले कर चला गया उसे आन्दोलित कर देने वाला वह नवयुवक। खोई सी बैठी रह गई वह। रामेश्वरी कहती जा रही थी न जाने क्या क्या। किन्तु वह तो...

घर लौटी वह। चित्त भारी हो गया था उसका। विचित्र विकलता भर गई थी मन में।

बीत गये कई दिन। वह फिर गई रामेश्वरी के घर उसके आग्रह करने पर। आज एक छोटी-सी इच्छा थी उसके मन में—काश, वह सुन्दर चेहरे वाला नवयुवक फिर दिखाई दे जाता आज भी! पहुँची वह रामेश्वरी के कमरे में। होने लगीं इधर-उधर की बातें। रामेश्वरी चली गई उठ कर किसी काम से। सहसा हो गई उसके मन की बात—मानिक आया कमरे में, बढ़ा उसकी ओर। सिहर उठी वह। हृदय धड़कने लगा उसका वेग से। रुका वह उसके सामने पहुँच कर। दृष्टि नहीं उठा सकी वह। एक पत्र आया उसके सामने।

"ले लीजिये इसे," अनुरोध किया मानिक ने।

तब काँपते हुए ले लिया उसने वह पत्र।

"उत्तर दीजियेगा इसका," फिर कहा मानिक ने, और चला गया वह तेज़ी से कमरे के बाहर। छिपा लिया उसने वह पत्र अपनी साड़ी में। व्यग्र हो उठी वह घर लौटने को। रामेश्वरी वापस आई कमरे में नाश्ते का सामान ले कर। खाना पड़ा उसे भी अनिच्छापूर्वक। कुछ देर के बाद किसी तरह रामेश्वरी से पीछा छुड़ा कर वह वापस आई अपने घर, और सीधे पहुँची अपने कमरे में। उस एकान्त में पढ़ने लगी वह मानिक का पत्र। अपना हृदय खोल कर रख दिया था मानिक ने उस पत्र में। प्रतिध्वनित होने लगा मानिक का एक-एक शब्द उसके हृदय में। उमड़ने लगा उसके हृदय में विचित्र आनन्द। कई बार पढ़ा उसने वह पत्र, लेकिन नहीं भरा जी। माँ ने आवाज़ दी। तब पत्र सन्दूक में बन्द कर के चली गई वह नीचे। मौका पाते ही फिर पहुँची वह अपने कमरे में, और फिर पढ़ा उसने वह पत्र एक बार। रात के समय लिखा उसने बड़े परिश्रम से उस पत्र का उत्तर। प्रतिध्वनि थी उसके उत्तर में मानिक के भावों की। उचित था उत्तर देना? लेकिन क्या होगा अब यह सोच कर? उचित रहा हो या अनुचित उत्तर दिये बिना रह नहीं सकती थी वह। न देती उत्तर, तो न जाने कैसी दशा हो जाती उसकी।

लेकर अपना पत्र लेकर, मनोभावों से दबी-दबी वह गई पाठशाला दूसरे दिन। रामेश्वरी नहीं आई थी उस दिन। बड़ी निराशा हुई उसे। तीसरे दिन भी नहीं आई रामेश्वरी। तड़प कर रह गई वह। चौथे दिन आई रामेश्वरी। पता लगा उससे कि तबीयत ख़राब हो गई थी उसकी। निमंत्रित नहीं किया रामेश्वरी ने उसे अपने घर चलने को। सोच में पड़ गई वह। रीसेस का घंटा बजा। पहुँची वह रामेश्वरी के पास।

"आज मेरे घर चलो, रामेश्वरी," प्रसंग छेड़ा उसने। जानती थी वह कि रामेश्वरी मुश्किल से राज़ी होगी।

"नहीं, सुलोचना, आज नहीं चल सकती। मेरी तबीयत अभी पूरी तरह ठीक नहीं हुई है।"

"यहाँ तो आई हो?"

"घर पर जी नहीं लगता था, इसलिए चली आई। तुम्हारे घर चलूँ, तो माँ नाराज़ होंगी। उन की आज्ञा बिना चलना उचित नहीं। तुम्हीं चलो आज मेरे घर। तुम्हारे घर किसी दूसरे दिन चलूँगी।"

"लेकिन मैंने भी तो अम्माँ से आज्ञा नहीं ली है।"

"अरे, यह तो बड़ी सीधी है! ताईं से कह दूँगी। वह कह देंगी तुम्हारे घर। टालो मत, सुलोचना, चलो, ज़रूर चलो। कुछ देर, तुम्हारे साथ रहूँगी, तो तबीयत बिलकुल अच्छी हो जायगी। मैं चित्रकारी सीखने लगी हूँ। तुम्हें दिखाऊँगी अपना बनाया हुआ पहला चित्र। है तो बिलकुल रद्दी, लेकिन तुम्हें दिखाऊँगी ज़रूर। खूब हँसोगी तुम उसे देख कर। बोलो, चलोगी?"

"अच्छा चलूँगी।"

सन्तोष की साँस ली उसने। बजा छुट्टी का घंटा। ताईं को सुलोचना के घर सूचना देने का आदेश दे कर रामेश्वरी आ बैठी उसके साथ अपनी गाड़ी में। चल पड़ी गाड़ी। आ गया घर। उतर कर सीधे पहुँची दोनों रामेश्वरी के कमरे में। उधर मेज़ पर पड़ा था चित्रकारी का सामान—रंगों का एक खुला बक्स, कई प्यालियाँ, कई ब्रश। वह बैठ गई एक आरामकुरसी पर। रामेश्वरी निकाल लाई आलमारी से अपनी पहली रचना। हँस पड़ी सचमुच वह उसे देख कर। हँसने लगी रामेश्वरी भी। एक बड़ा मोटा आदमी बैठा था एक तख्त पर। उसके सामने था एक हुक्का, और हुक्के पर जमी थी चिलम। हुक्के की निगाली थी उसके हाथ में, मुख ऊपर उठा कर फेंक रहा था वह धुँये का गुब्बारा, और उसकी टोपी खिसकी जा रही थी उसके सिर से। उसकी आँखों के भाव से, माथे की सिकुड़न से, ओठों से, मूँछों से और हड्डी से टपक रही थी विचार-मग्नता। विचित्र थी उस की आकृति हँसा देने वाली। सफ़ाई नहीं थी चित्र में, रंगों का चुनाव और मिश्रण भी ठीक नहीं था, रेखायें भी नहीं थीं दोष-रहित, किन्तु भाव था उसका मौलिक।

"वाह! रामेश्वरी! बड़ा सुन्दर आरम्भ है!"

"रहने भी दो। क्या रखा है मेरे चित्र में?"

"किससे सीख रही हो?"

"मानिक से। वह सीख रहा है एक प्रसिद्ध चित्रकार से, और मैं सीख रही हूँ उससे।"

"अच्छा!"

"हाँ। बड़ी तरक्की कर रहा है मानिक। चलो, दिखाऊँ, तुम्हें उसके बनाये हुये चित्र।"

दोनों पहुँचीं मानिक के कमरे में। बड़ी सुरुचि और सादगी से सजा था वह कमरा। वह बैठ गई तख्त पर। रामेश्वरी निकाल लाई आलमारी से एक अलबम। अनेक चित्र थे उसमें। कोई था किसी जल-प्रपात का दृश्य, कोई हिमाच्छादित पर्वत का, कोई वन का, कोई देहाती बाज़ार का, कोई ग्राम का, कोई खेतों का। उलझ गई उसकी दृष्टि एक चित्र में। चाँद निकल आया था। एक निर्जन टीला था, और उसके नीचे नदी बह रही थी। चन्द्रमा की रश्मियाँ खेल रही थीं नदी के जल से। टीले पर एक वृक्ष के समीप पड़े हुए पत्थर पर बैठा था एक नवयुवक खोया हुआ-सा। चित्र के नीचे हाथ से लिखा था 'मौन व्यथा'। अपनी संपूर्ण एकाग्रता से पीने लगी वह उस चित्र में बहता हुआ रस।

"कैसा है यह चित्र?"

"बड़ा अच्छा है," सचेत हो कर उत्तर दिया उसने।

"आज ही तैयार हुआ है यह। कई दिन से मानिक लगा था इसमें। उसके उस्ताद ने भी तारीफ़ की है इस चित्र की।"

"रामेश्वरी!" आवाज़ आई नीचे से।

"यहीं बैठी रहो, सुलोचना। मैं अभी आती हूँ। अम्माँ बुला रही हैं।"

उठ कर चली गई रामेश्वरी। आ गया वह अवसर, जिसकी खोज में थी वह। उठी वह। लड़खड़ा गये उसके पैर। इधर-उधर देख कर बढ़ी वह पड़ी हुई मेज़ की ओर। वेग से धड़क रहा था उसका हृदय। कई पुस्तकें रखी थीं मेज पर। साड़ी से निकाल कर अपना पत्र रख दिया उसने ऊपर वाली पुस्तक के अन्दर। लौट कर आ बैठी वह फिर तख्त पर। हो गया उसका काम निर्विघ्न रूप से। संतोष की साँस ली उसने। लौट आई रामेश्वरी। दोनों फिर जा पहुँचीं रामेश्वरी के कमरे में।

बीत गये कई दिन। पाठशाला में एक दिन कहा उससे रामेश्वरी ने—"सुलोचना, एक चित्र के लिए मानिक को माडेल की ज़रूरत है।

माडेल?"

"क्या करना होगा?"

"बैठ कर चित्र खिंचवाना होगा।"

चुप रही वह।

"बोलो, राजी हो ?"

"अम्माँ से पूछ कर बताऊँगी।"

"उनसे पूछना तो ठीक न होगा। मुमकिन है वह मना कर दें।"

"तब ?"

"इसमें कोई बुराई नहीं है, और फिर किसी को कुछ खबर भी न होने पायेगी। कल छुट्टी है। मैं गाड़ी भेज दूँगी कल सवेरे तुम्हारे घर पर। तुम आ जाना मेरे साथ पढ़ने के बहाने से। दिन में मानिक चित्र बना लेगा। शाम को अपने घर वापस चली जाना।"

"अच्छी बात है।"

दूसरे दिन मानिक के कमरे में गेरए रंग की साड़ी धारण किए, फूलों के आभूषण पहिने, घुटनों पर हाथ बाँध, विषाद की मूर्ति बनी बैठी थी एक ओर कुरसी पर। कुछ देर के बाद रामेश्वरी उठ कर चली गई कमरे के बाहर।

"तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया था, सुलोचना," मानिक ने कहा धीरे से, धन्य मानता हूँ अपने को।

चुप रही वह।

"दुष्यन्त और शकुन्तला भी इसी तरह एक दिन प्यार करने लगे थे। एक-दूसरे को। मैं क्यों प्यार करने लगा तुम्हें, यह मैं नहीं जानता। और शायद तुम भी नहीं जानतीं कि तुम क्यों चाहने लगीं मुझे। अगर पा सका तुम्हें तो सार्थक हो जायगा मेरा जीवन। लेकिन अगर न पा सका, तो भी कभी भूल नहीं सकूँगा तुम्हें।"

चाहा उसने कि दोहराये वह भी उसके अन्तर में उठे शब्द, लेकिन ज़बान नहीं खुल सकी उसकी।

"जीवन एक महान् विडम्बना है। जो चाहो वह नहीं होता, जो न चाहो वह होकर रहता है। मैं दहल उठता हूँ यह सोच कर। बाधायें आ सकती हैं हमारे सामने, और मुमकिन...। फिर भी आशा तो हम कर ही सकते हैं।"

दिन भर चलती रही चित्रकारी। अवसर पाकर कितनी ही बातें कहीं मानिक ने। कितनी मीठी लगीं। उसे वे सब बातें। शाम को

वापस गई वह अपने घर। उस समय प्रसन्नता थी उसके मन में और वेदना की हलकी टीस।

तीसरे दिन तैयार हो गया वह चित्र। कितना सुन्दर था वह। तपोवन का एक मनोरम कुंज था। लताओं और वृक्षों के बीच घास के हरे सुकोमल फ़र्श पर बैठी थी वियोगिनी शकुन्तला विकल, अशांत, उद्वेलित। एक मृग-शावक खड़ा था उसके समीप असीम सहानुभूति से देखता हुआ उसकी ओर। कितनी भली लग रही थी वह शकुन्तला की भूमिका में!

और बीत गये कई दिन। एक दिन रामेश्वरी की माँ ने उसकी उपस्थिति में रामेश्वरी से कहा—"कितनी सुन्दर और सीधी लगती है तुम्हारी यह सखी! मेरी बहू बनने लायक है यह।"

लजा कर मुख फेर लिया उसने। दूसरे दिन रामेश्वरी ने कही अपनी माता की यह बात उसकी माता से। उसकी माता ने कही यह बात उसके पिता और भाई से। उस बात से उत्साहित होकर एक दिन पहुँचे उसके पिता मानिक के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर। तब आ उपस्थित हुई विषम परिस्थिति। फिर गया पानी उसकी और मानिक की आशाओं पर। इनकार कर दिया मानिक के पिता ने। वह थे रईस, धनी, ज़मींदार, और उसके पिता थे एक साधारण क्लर्क। स्थिति का विभेद बन गया भयानक रोड़ा। निराश वापस आये उसके पिता। बड़ा दुःख हुआ उसे। बन्द हो गया रामेश्वरी के घर उसका आना-जाना।

बीत गये कई मास। एक दिन सुना उसने कि मानिक की शादी तय हो गई है, और तिलक शीघ्र चढ़ने वाला है। जी में आया उसके कि आत्म-हत्या कर ले। लेकिन कर नहीं सकी वह।

तिलक का दिन आया और बीत गया। कहा उसके पिता ने उसकी माता से—"कुछ सुना तुम ने! रंग में भंग हो गया! रायसाहब के घर तिलक नहीं चढ़ सका। तिलक चढ़ने के एक घंटा पहले मानिक बाबू घर से लापता हो गये। सारे शहर में उनकी तलाश की गई, लेकिन कहीं पता नहीं लगा। कितना नेक लड़का है वह! कितनी कोशिश की उस बेचारे ने हमारे यहाँ सम्बन्ध करने की! लेकिन राय साहब टस से मस नहीं हुये। अब सिर पर हाथ रख कर रो रहे हैं हज़रत। ऐसा

बेवकूफ़ शख्स मैंने कहीं नहीं देखा। बनते हैं नई रोशनी के इन्सान, लेकिन काम करते हैं दकियानूसों के-से!"

बीत गये और कई मास। तय हो गई उसकी शादी भी। चाहा उसने फिर कि मर जाए, लेकिन मर नहीं सकी। वाह री बेहया ज़िन्दगी! एक दिन बारात आ लगी दरवाज़े पर। दूल्हा बन कर आया एक अजनबी और ब्याह ले गया उसे। चाहा उसने कि मर जाय, लेकिन मर नहीं सकी। वह अजनबी बन गया उसके शरीर का स्वामी। बन सका वह उसके हृदय का स्वामी भी? कैसे बन पाता वह हृदय का स्वामी भी? वह तो हो चुका था कब का दूसरे का।

बदली हो गई उसके पति की इस शहर में। और अब रहती है वह इस साधारण घर में उसके साथ। सरकारी नौकर है उसका पति। भला आदमी है, वह मानता है उसे, सुखी रखने की कोशिश भी करता है उसको। लेकिन प्यास नहीं बुझा सकता वह उसके दिल की। कोई दोष नहीं उसका। यह तो विडम्बना है जीवन की।

और अब आ रहा है मानिक उससे भेंट करने के लिये। मिलेगी वह उससे? क्यों न मिलेगी वह उस से? मिलेगी, ज़रूर मिलेगी। हृदय-मन्दिर में जिसकी मूर्ति विराजमान है, जिसकी आराधना करती आ रही है वह इतने दिनों से। उससे न मिले वह? यह हो कैसे सकता है? किन्तु, किन्तु। पतीत्व की ज़िम्मेदारियाँ, समाज की मर्यादाएँ? हृदय की पुकार, उसका अनुरोध, उसका आदेश? सब को मानेगी वह जितना मानना चाहिये उसे।

(२)

दूसरे दिन दफ़्तर से लौट कर कहा राजेन्द्र कुमार ने—"सुनती हो?"

"क्या है?"

"तुम्हारे एक रिश्तेदार आये हैं। उनका नाम मानिक चन्द्र है। दफ़्तर में मुझ से मिले थे। बड़े नेक आदमी मालूम होते हैं।"

"कहाँ हैं वह?"

"एक होटल में ठहरे हैं। मैंने उनसे अनुरोध किया कि यहीं आकर ठहरें, लेकिन वह राज़ी नहीं हुए। अभी आते होंगे। खाना इस वक्त यहीं खायेंगे। बढ़िया खाना तैयार करना।"

"अच्छा।"

और वह तुरन्त जुट गई खाना बनाने में। उसका जी इतना कभी

नहीं लगा था इस काम में। बड़े प्रेम से, बड़ी सावधानी से तैयार करने लगी वह भोजन।

सात बजे। मानिक आया। राजेन्द्र ने स्वागत किया उसका। आसन बिछे। बैठ गये राजेन्द्र और मानिक। खाना परोसा सुलोचना ने। बड़ी स्वादिष्ट थीं तमाम चीज़ें। कभी इतना मज़ा नहीं मिला था मानिक को भोजन में।

समाप्त हुआ भोजन। बैठक में आये राजेन्द्र और मानिक। मानिक बैठ गया एक आरामकुरसी पर। राजेन्द्र चले गये कमरे के बाहर। पान लेकर आई सुलोचना ज़रा देर के बाद। नमस्कार किया उसने। उत्तर दिया मानिक ने। तश्तरी बढ़ाई सुलोचना ने उसकी ओर।

"कल दोपहर के समय आऊँगा, सुलोचना," पान लेते हुए धीरे से कहा मनिक ने।

"अच्छी बात है।"

चली गई वह। वापस आये राजेन्द्र। कुछ देर तक बातें होती रहीं इधर-उधर की। फिर विदा ली मानिक ने।

रात बीती। दिन चढ़ा। नौ बजे। राजेन्द्र चले गये दफ़्तर खा-पीकर। तैयार होने लगी सुलोचना। गहने उतार डाले उसने, जोगिये रंग की साड़ी पहिनी, केश बिखेर लिये और वह करने लगी प्रतीक्षा अपने दुष्यन्त की। कभी ऊपर जाती, कभी नीचे आती, कभी सदर दरवाज़े के सोखचों से बाहर झाँकती।

बारह बजे। जंजीर खटकी, तुरन्त दरवाज़ा खोला उसने। मानिक आया अन्दर। दरवाज़ा बन्द कर दिया सुलोचना ने। दोनों पहुँचे बैठक में कई क्षणों तक चुप खड़े रहे दोनों।

"बैठिये।"

बैठ गया वह।

"अच्छी तो हो सुलोचना?"

"हाँ, अच्छी ही हूँ, और आप?"

"जी रहा हूँ किसी तरह।"

हूक उठी सुलोचना के हृदय में।

"सुखी हो, सुलोचना, इस जीवन से?"

टपकने लगे आँसू सुलोचना की आँखों से। मुख फेर कर आँखें पोंछने लगी वह।

"रोओ नहीं, रानी ! बतलाओ मुझे साफ़-साफ़ ।"

"शरीर को कोई दुख नहीं है", भर्राए हुए स्वर में उसने कहा, "लेकिन मन...।"

चुप बैठा रहा वह एक क्षण। "मेरे साथ चल सकोगी ?"

"कहाँ ?"

"किसी ऐसी जगह, जहाँ हमें कोई दोष देने वाला न होगा।"

चुप रही वह।

"बोलो, सुलोचना ?"

"मैं मजबूर हूँ। मेरा हृदय आपका ज़रूर है लेकिन...इस पर दूसरे का अधिकार है।

उठ खड़ा हुआ वह।

"ठीक कहती हो, सुलोचना ! मेरे लिए अब कोई आशा नहीं है।"

"ठहरिये।"

"नहीं, अब जाऊँगा।"

"फिर कब आइयेगा ?"

"कल इसी समय एक बार और आऊँगा।"

चला गया वह तेज़ी से। देखने लगी वह उसे दरवाज़े की आड़ से। चला जा रहा था वह लड़खड़ाता हुआ धीरे-धीरे। ओझल हो गया वह दृष्टि से। दरवाज़ा बन्द किया उसने। किसी तरह पहुँची वह ऊपर शयनागार में और गिर पड़ी पलंग पर। झर-झर गिर रहे थे आँसू उसकी आँखों से।

रात के तीन बज चुके थे और मानिक होटल के अपने कमरे में एक चित्र खींच रहा था। सवेरा हो गया, और वह लगा रहा चित्र बनाने में। दिन चढ़ आया। काम बाक़ी था अब भी चित्र में। चित्र समाप्त हुआ साढ़े दस बजे। तब स्नान और भोजन किया उसने। बारह बजने में दस मिनट बाक़ी थे। उस चित्र को काग़ज़ में लपेट कर और रील से बाँध कर, वह निकला होटल से बाहर, और सवार हुआ एक ताँगे पर।

राजेन्द्र के द्वार पर पहुँच कर जंजीर खटखटाई उसने। दरवाज़ा खुला। सामने खड़ी थी सुलोचना, पिछले दिन वाले वेष में। पैकेट बढ़ा दिया उसने उसकी ओर। ले लिया उसे सुलोचना ने।

"क्या है इसमें ?"

"देख लेना अभी ।"

"अन्दर आइये ।"

"बस, इसे देने ही के लिए आया था ।" मुड़ पड़ा वह ।

"सुनिये तो ।"

नहीं रुका वह । तेज़ी से चल कर ओझल हो गया वह दृष्टि से । एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर दरवाज़ा बन्द कर दिया उसने । फिर पहुँची वह मन मारे हुए शयनागार में ।

पैकेट खोला उसने । वही चित्र था उसमें । एक सुसज्जित कमरे के फर्श पर चित पड़ा था एक नवयुवक । उसके सीने से छूट रहा था खून का फौवारा, और उसके एक हाथ में था एक धुआँ देता हुआ रिवाल्वर और दूसरे हाथ में था शकुन्तला का चित्र । नवयुवक था मानिक, शकुन्तला थी वह । चित्र के नीचे लिखा था 'अन्तिम चित्र' । 'क्या मतलब है इस चित्र का ? ओह ! क्या मतलब...?'

दिन भर आँसू बहा-बहा कर वह हल करती रही यही पहेली ।

(३)

संध्या के समय कहा राजेन्द्र ने—"मेरे लिए खाना मत बनाना ।"

"क्यों ?"

"मानिक बाबू ने दावत दी है ।"

"कहाँ ?"

"होटल में ।"

चुप रही वह । किंचित् शान्ति मिली उसे ।

"अब जाता हूँ । सात बजे होटल पहुँचना है । बिशनलाल से भी मिलना है ।"

"अच्छा !"

"अपने लिए खाना बना लेना—ज़रूर ।"

कुछ नहीं कहा उसने । चले गये राजेन्द्र । निर्मूल है उसकी आशंका ? कौन कह सकता है ? दावत ? साधारण शिष्टाचार की बात हो सकती तब ? होकर रहेगा जो होना है । आह ! वह चित्र !



...ना बना कर खाना ? भूख कहाँ है ... । होटल के एक कमरे में एक

आसीन थे राजेन्द्र और मानिक। प्लेटें, ह्विस्की, और सोडा की बोतलें और गिलास रखे थे मेज़ पर। बड़े प्रसन्न थे राजेन्द्र। उनसे भी अधिक प्रसन्न था मानिक। ह्विस्की की बोतल उठा कर मानिक भरने लगा राजेन्द्र का गिलास।

"नहीं, नहीं," चाप का टुकड़ा मुख में रखते हुए कहा राजेन्द्र ने, "बस कीजिए, बस कीजिए।"

"थोड़ी-सी और लीजिए।"

"मैं बहुत कम पीता हूँ।"

"ज्यादा नहीं दे रहा हूँ आपको।"

"बड़े नेक हैं आप!"

"यह आपकी उदारता है। मैं तो अपने को पतित ही समझता हूँ!"

"यह क्या कह रहे हैं आप? आपका-सा नेक दिल इनसान मैंने आज तक नहीं देखा।"

"हमेशा रहेगी आपकी यही राय?"

"बेशक!"

"अगर मुझसे कभी कोई ऐसी बात हो जाय, जो दुनिया की नज़र में उचित न हो, तो भी क्या आप मुझे बुरा न समझेंगे?

"[illegible] कोई कारण तो अवश्य [illegible], मानिक बाबू! नहीं, किसी [illegible]

[illegible]क्या!

एक घण्टे के बाद राजेन्द्र को सवार कराया मानिक ने एक ताँगे पर। चल पड़ा ताँगा।

घर आ गया। जंजीर खटखटाई राजेन्द्र ने। दरवाज़ा खोला सुलोचना ने। ऊपर चले गये राजेन्द्र दरवाज़ा बन्द करके। वह भी पहुँची शयनागार में।

"खाना बनाया था तुमने?"

"नहीं,"

"तब क्या खाया?"

"बाज़ार से पूड़ियाँ मँगवा ली थीं। कैसी रही दावत?"

"बहुत अच्छी। बड़ा मज़ा आया। बड़ा शरीफ़ इन्सान है मानिक, बड़ा नेक दिल! वाह! आदमी हो तो ऐसा हो!"

दस मिनट के बाद खर्राटे भर रहे थे राजेन्द्र। गुम-सुम पड़ी हुई थी सुलोचना अपने बिस्तर पर। तूफ़ान उठा था उसके हृदय में। घना अन्धकार छाया था उसके चारों ओर। आलोक की एक रेखा भी नहीं थी कहीं। दम घुट रहा था उसका। चीखने लगा घंटे पर घंटा।

दो बज गये। पीटने लगा कोई सदर-दरवाज़े की जंजीर। राजेन्द्र को जगाया सुलोचना ने। जाकर दरवाज़ा खोला राजेन्द्र ने। सुलोचना खड़ी थी सहन में कौतूहल की मूर्ति बनी।

"बाबू साहब," होटल के उस आदमी ने कहा—"आपके जो रिश्तेदार हमारे होटल में ठहरे थे..."

"कौन, मानिकचन्द्र ?"

"हाँ, मानिकचन्द्र। उन्होंने आत्म-हत्या कर ली।"

"आत्म-हत्या कर ली ! कब ? कहाँ ?"

"एक घंटा पहले। अपने कमरे में। पुलिस को इत्तला दे दी गई है। मैनेजर साहब ने आपको बुलाया है।"

"अच्छा रुको, चलता हूँ !"

मुड़ कर पहुँचे वह सहन में।

"कहाँ से आया है यह आदमी ?"

"होटल से। गजब हो गया ! मानिक बाबू ने आत्म-हत्या कर ली। मैं जा रहा हूँ।"

शीघ्रता से कपड़े पहिन कर चले गये वह। मूर्तिवत् खड़ी थी वह आँगन में।

होटल के उस कमरे में प्रवेश किया राजेन्द्र ने। अन्दर-बाहर मौजूद थे पुलिस वाले। कमरे में फ़र्श पर चित पड़ा था मानिक। जीवन का कोई लक्षण शेष नहीं था उसके शरीर में। सीना उसका तर था खून से। एक हाथ में था रिवाल्वर, दूसरे में शकुन्तला का एक चित्र। शान्ति

भगवान् को धन्यवाद देती थी। लेकिन किस्मत में तो कुछ और ही लिखा था। एक दिन मेरे सामने एक युवक आया। दूर का एक रिश्तेदार था। बड़ा सुन्दर था, बड़ा हँसमुख, बड़ा जादूगर। उसने कहा—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, बेहद प्यार करता हूँ। तुम्हारे बिना जी नहीं सकता। मुझे जीवन-दान दो!" मेरे ऊपर नशा छा गया। उसने मुझे छल लिया। फिसल कर मैं गहरे जल में चली गई। और मुझे तब होश आया, जब मैंने अपने को अन्धकार में पाया। सहायता के लिए मैंने उसे आवाज़ लगाई, उसको उसके प्रण की याद दिलाई। वह मुख फेर कर चला गया। तब मुझे मालूम हुआ कि वह मनुष्य के रूप में सर्प था। लेकिन सर्प की उससे तुलना करना शायद सर्प का भी अपमान करना है। ससुरालवालों ने मुझे दुत्कार दिया। पिता भी मेरे निकट आने का साहस न कर सके। यही है, बहिन, मेरे अपमान, पतन और दुःख की कथा।"

उसे हृदय से लगा कर, अपने आँचल से उसके आँसू पोंछ कर, सुशीला ने कहा—"विधाता ने कोप कर कभी किसी को सुख नहीं दिया, बहन! लेकिन दुःख जब असह्य हो उठता है, तो ऐसा करना स्वाभाविक ही है। फिर भी मैं तो यह सोचती हूँ कि जब हम नारियों को दुःख झेलना ही बदा है, तो हमें उसे चुपचाप झेल लेना चाहिये।"

"यह तो मैं नहीं मान सकती, बहिन। अन्याय चुपचाप सह लेना, अन्याय को प्रोत्साहन देना है। पुरुषों को अगर हमारे ऊपर जुल्म करने का अधिकार है, तो हमें भी उनके विरुद्ध विद्रोह कर देने का अधिकार होना चाहिये। मेरा अगर वश चले, तो समस्त पुरुष-जाति से अपने इस अपमान और अधोगति का बदला लेकर छोड़ूँ।"

"विद्रोह करने का अधिकार हमें अवश्य है, और ऐसा हमें करना भी चाहिये, अगर इसके द्वारा हम ऊपर उठ सकें। लेकिन बदले की भावना तो कोई अच्छी भावना नहीं। इस भावना की सहायता से अगर हमारी जीत भी हो जाय, तो भी हमारी यह जीत हार से अच्छी न ठहरेगी। फिर एक या अनेक बुरे पुरुषों के कारण समस्त पुरुष-जाति तो बुरी नहीं कही जा सकती!"

"जी हाँ, बहिन, मेरे दिल में जो टीस है, वह तो तभी मिटेगी जब मैं अपनी ही तरह पुरुषों को भी दुःखी होते देखूँगी।"

"मैं भी तो श्रो ही हूँ, चम्पा, और तुम्हारे दिल पर जो कुछ बीत रही है उसे कुछ-कुछ समझ रही हूँ। लेकिन मैं अगर तुम्हारे स्थान पर होती, तो यह भी समझ लेने की कोशिश करती कि मुझ से भी कुछ भूल हुई या नहीं।"

"भूल तो सरासर मेरी ही थी, बहिन। अगर ऐसा न होता, तो क्या मेरे मुख में कालिख लगती, मैं कहीं की न रहती, और आज इस तरह आँचल पसार कर मुझे तुम्हारे दरवाजे आना पड़ता?"

"मुझे क्षमा करो, चम्पा, अगर मेरी बात से तुम्हारा दिल दुखा हो तो! मेरा मतलब कुछ और था। लेकिन जाने दो उस बात को। इस घर को अपना ही घर समझो। मैं हर तरह तुम्हारी सेवा करने को तैयार हूँ। आखिर तुम मेरी बहिन ही हो न?"

"तुम मुझ से बड़ी हो, बहिन। दो कड़ी बात भी कह दो, तो मुझे बुरा मानना न चाहिए। लेकिन तुमने तो मुझे कुछ कहा नहीं, उलटे मेरे आँसू ही पोंछ रही हो। बात यह है, बहिन, कि इस समय मैं अपने आपे में नहीं हूँ। मुझसे नादानी हुई। बुरा मत मानो। मैं जानती हूँ कि तुम बड़ी उदार हो, दयावती हो, देवी हो! इसीलिये तो तुम्हारे सामने अपना यह काला मुख लेकर आने का साहस कर सकी हूँ। मुझे उबारो, बहिन, उबारो!"

तब उसे अपनी ओर खींच कर, हृदय से लगा कर, उसकी पीठ पर थपकियाँ देकर, आँसू बहा कर, सरलहृदया सुशीला उसे फिर-फिर आश्वासन देने लगी। और उसने मान लिया कि चम्पा सर्वथा निर्दोष है, युग-युग से प्रताड़ित नारीत्व का यह भी एक रूप है, और उसकी सेवा कर सकना उसके लिए गौरव की बात होगी। यही कहा उसने अपने पति, ललित कुमार, से जब वह सन्ध्या के समय घर आया। किन्तु ललित अपनी सरल-हृदया पत्नी से सहमत नहीं हो सका। अनुभव-सम्पन्न उसकी सुबुद्धि यह स्वीकार नहीं कर सकी कि चम्पा-जैसी प्रौढ़ युवती की अधोगति का उत्तरदायित्व एकमात्र उसके प्रेमी पर है।

"मैं यह मानता हूँ, सुशी," ललित ने कहा—"कि उद्दाम काम के वशीभूत हो जाने पर पुरुष जानवर से भी बदतर हो जाता है; लेकिन मैं यह नहीं मान सकता कि ऐसे पुरुष से भी यदि कोई अनुभवी स्त्री बचना चाहे, तो बच नहीं सकती।"

"बल के प्रयोग से क्या वह भ्रष्ट नहीं की जा सकती ?"

"की जा सकती है, लेकिन इस तरह भ्रष्ट की गई नारी को मैं भ्रष्टा नहीं कह सकता। चम्पा का जो हाल तुमने मुझे बताया है, उस से तो यह जाहिर नहीं होता कि उसके प्रति बल का प्रयोग किया गया ?"

"बल प्रयोग को यदि उसके ठोस अर्थ में ले रहे हो, तब तो तुम्हारी ही बात ठीक है। लेकिन और तरीकों से भी तो बल प्रयोग किया जा सकता है ?"

"बेशक ! लेकिन कुमार्ग को पहिचान सकनेवाला व्यक्ति यदि अपनी इच्छा से कुमार्ग पर चलने लगे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके साथ किसी तरह का बल प्रयोग किया गया है।"

"जो हो, मैं तो समझती हूँ कि हमें चम्पा के प्रति दया-भाव रखना और उसे आश्रय देना ही चाहिये। उसे दुःख है, पश्चात्ताप है, और कहीं और उसके लिये ठिकाना भी नहीं है।"

"यह मैं भी मानता हूँ, सुशी। लेकिन हमें यह भी सोच लेना चाहिये कि समाज हमारे इस काम का समर्थन नहीं करेगा, उलटे हमारी निन्दा ही करेगा।"

"किया करे। लेकिन कोई निष्पक्ष व्यक्ति समाज के उस व्यवहार के लिये हमें दोषी नहीं ठहरायेगा।"

"यह तो ठीक ही है।"

चम्पा ने सन्तोष की साँस ली। नाव किनारे लग गई। आँधी-पानी से बच कर दो घड़ी टिक रहने का ठिकाना मिल गया।

× × ×

प्रसव का समय आ गया। कुशल लेडी डाक्टरों और नर्सों की देख-रेख में एक सार्वजनिक अस्पताल में चम्पा ने एक पुत्र को जन्म दिया। हर्ष हुआ उसे, किन्तु दुःख भी। पुत्र को जन्म दे कर कौन माता आनन्दित नहीं होगी? लेकिन चम्पा की सी स्थिति में पड़ी हुई स्त्री यदि दुःखी भी हो, तो वह स्वाभाविक ही है। एकाकीपन में बालक के सुख जाने की जितनी सम्भावना थी, उतनी अब इस दुकेलेपन में न थी। सुशीला उसे नित्य देख आती। ललित भी रोज़ उसका हाल-चाल पूछ आता। दस दिन के बाद चम्पा अपने इन मित्रों के पास लौट आई। उसे और उस के बच्चे को दोनों ने पूरी तरह अपना लिया।

अपनाने की क्रिया में ललित इतना आगे बढ़ गया कि उसे भय होने लगा कि शायद अब वह पीछे नहीं लौट सकेगा। लेकिन लौटे बिना काम कैसे चलेगा? जीवन के विशाल पथ के अगल-बगल अनेक सुन्दर, सुरम्य रंग स्थल रहते हैं। किन्तु प्रत्येक ऐसी जगह पथिक का उलझ रहना क्या उसे शोभा दे सकता है? उलझना उसने चाहा तो नहीं? फिर भी उसका उत्तरदायित्व कम तो नहीं हो जाता? उत्तर-दायित्व कम हो तो भी परिणाम भिन्न तो नहीं हो सकता? और कितना भयंकर हो सकता है वह परिणाम! यह चम्पा कौन है उसकी? बहुत दूर के रिश्ते से साली लगती है। सुशिक्षता भी वह नहीं है, अप्सरा भी नहीं और वह स्वेच्छा से गड्ढे में गिरी, और उसके उस कृत्य की समाज सराहना भी नहीं कर सकता। सुशीला उससे कहीं अधिक रूपवती है, सरलता के समान सरल, उदारता के समान उदार, भक्ति के समान पवित्र। फिर भी चम्पा उसे अपनी ओर खींच रही है, खींचती जा रही है, और फिसलता हुआ, लुढ़कता हुआ वह बढ़ा जा रहा है। किधर? शायद एक ऐसे अंधकूप की ओर, जो उसे समूचा निगल लेगा, उसके अस्तित्व का कोई चिह्न बाकी न रहने देगा। क्या उस में बल नहीं, बुद्धि नहीं, साहस नहीं? है क्यों नहीं? लेकिन...। नहीं, नहीं, उसे रुकना ही पड़ेगा, बचना ही पड़ेगा। इसी में तो उसका और सुशीला का कल्याण है।

और रुकने और बचने की क्रिया आरम्भ भी हो गई। सवेरा होते ही वह गंगा-स्नान के लिये चला गया। स्नान करके लौटा, तो बाहर बैठक में बैठ कर समाचार पत्र पढ़ने लगा। सुशीला पान देने आई, तो कई क्षण तक उसके चेहरे की ओर देखती ही खड़ी रह गई।

"आज अनमने क्यों हो?"

"धूप में पैदल चल कर आया हूँ, शायद इसी से।"

"हाँ, शायद इसी से। चाय बना दूँ?"

"नहीं। रहने दो। नौ बजने में दस मिनट बाकी हैं। खाना खाने का समय आ रहा है।"

खाना खाकर वह दफ्तर चला गया। चम्पा कई बार उसके सामने आई, किन्तु ललित उससे बोला नहीं। फँसता हुआ शिकार क्या निकल भागेगा? नहीं भाग सकेगा वह, अगर शिकारी की सतर्कता, उसकी

चतुराई, उसका कौशल चल गया ? नहीं, नहीं बच सकेगा वह, जब तक उसके तर्कश में एक तीर भी बाकी रहेगा। अन्यथा कैसे मिटेगी चम्पा के दिल की टीस, कैसे मिलेगी उसे वह विकट शान्ति, जो तूफान के रथ पर चढ़ कर ही उसके निकट आ सकेगी ? विनाश ताण्डव-नृत्य करेगा, दुःख हँस हँस कर साथ देगा ? होने दो वह सब। उसे तो वह शान्ति चाहिये, हाँ . !

शाम आ गई थी। बैठक में ललित आरामकुर्सी पर लेटा हुआ एक पुस्तक देख रहा। हलुवे की तश्तरी और जल-भरा गिलास हाथों में लिये हुये चम्पा आई, और दरवाज़े के समीप खड़ी होकर उसकी ओर देखने लगी। उसका आना ललित से छिपा नहीं रहा, लेकिन उसने उसकी ओर दृष्टि नहीं डाली। तब चम्पा ने तश्तरी और गिलास फर्श पर रख दिया। एक छोटी-सी मेज़ आरामकुर्सी के सामने ले गई। फिर उस पर तश्तरी और गिलास ला कर बड़ी सावधानी से रखा।

"नाश्ता कर लीजिये, जीजा !"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"यों ही।"

"मुझ से नाराज़ हैं क्या ?"

"नहीं।"

"फिर नाश्ता क्यों नहीं करना चाहते ?"

"भूख नहीं है।"

"बहिन को बुला दूँ ?"

"वे क्या भूख पैदा कर देंगी ?"

"[illegible] !"

[illegible]

"लेकिन पुरुषों को पुरुष ही ज़्यादा समझ सकते हैं !"

लेकिन यह क्या कर रहा है वह ? फिर उसी दलदल की ओर ? उसका वह निश्चय ? खतम कर देना चाहिये इस खतरनाक बातचीत को। तब एक क्षण रुक कर, वह नाश्ता करने लगा। चम्पा की आँखें

खिंच गई। मुस्कराती हुई वह कमरे के बाहर चली गई। क्या वह सचमुच उसे चाहती है? चाहती नहीं, तो इस तरह आगे क्यों बढ़ी आ रही है? और भी कारण हो सकते हैं? शायद उसे प्रसन्न करके अपना भविष्य सुरक्षित कर लेना चाहती है। नहीं, यह बात नहीं हो सकती। अगर यही बात होती, तो उसके अस्तित्व से निकल कर वह उसे इस तरह घेरने न लगती। किन्तु क्यों सोच रहा है यह यह सब? उसे तो अपने निश्चय पर दृढ़ रहना है। डरा न रहेगा, तो क्या अपनी सुबुद्धि का अपमान करेगा वह? किन्तु वे लहरें—प्राणों को छू छू कर भागने वाली, शरीर के एक-एक तार को आन्दोलित कर देने वाली लहरें! सब जैसे सुबुद्धि उसका हाथ पकड़ कर उसे घर से बाहर खींच ले गई।

कई गलियाँ आगे आईं, और पीछे छूट गईं। एक पार्क सामने आया, और उसे निमंत्रित करने लगा। वह अन्दर घुसा, और पेड़ के नीचे पहुँच कर बेंच पर अस्त-व्यस्त बैठ गया। कैसी भयानक अशान्ति थी वह, जो उसके अन्तर्देश में आँधी की तरह हहरा रही थी! कैसा दर्द-सर था वह, जो लाइलाज हो जाने का सामान करता नज़र आता था! मन की गहराई में कहीं क्या कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो इस आड़े वक्त पर निकल कर इस आँधी को शान्त कर दे, इस दर्द-सर को ख़त्म कर दे?

"ललित!"

चौंक कर उसने देखा। उसका एक मित्र गोकुलचन्द्र उसकी ओर चला आ रहा। दूर ही से उसने सलाम किया। ललित ने उत्तर दिया। गोकुल आया, उसकी बगल में बैठ गया, और विनोदपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे की ओर देख कर मुस्कराता हुआ बोला—"इस तरह यहाँ बैठे हो, जैसे घर से निकाल दिए गए हो!"

ललित हँस पड़ा।

"एक औरत ही इस काम के लिए काफ़ी होती है। लेकिन जब एक के बजाय दो सर पर सवार हों, तो ईश्वर ही मालिक है!"

ललित गम्भीर हो गया। हँसी उसके ओठों से उड़ गई।

"क्यों, यार ललित, वह कौन है, जो आज-कल तुम्हारे यहाँ आई हुई है?"

"मेरी साली।"

"तब तो ठीक है !"

"इस का मतलब ?"

"मतलब यह कि जो कुछ हुआ, ठीक ही हुआ।"

"यानी ?"

"उन्हें तुमने एक से दो कर दिया ! इससे बढ़ कर कौन-सी बात हो सकती है ?"

"दो कर दिया ?"

"बेचारी अकेली थी। तुम्हारी बदौलत उसकी सूनी गोद में एक चाँद सा बच्चा आ गया। इतनी सीधी-सी बात नहीं समझते ?"

"गोकुल, मैं जानता हूँ कि तुम बड़े दिल्लगीबाज़ हो, लेकिन मज़ाक की भी एक हद होती है। गाली बकना तुम जैसे भले आदमी को शोभा नहीं देता।"

"गाली बकी है मैंने ?"

"और क्या किया है तुमने ?"

"सच्ची बात कड़वी भी होती है।"

"सच्ची नहीं, बिलकुल झूठी बात कही है तुमने।"

"अपनी आत्म-विश्वास का हर शब्द तो यही कह रहा है, जो मैंने कहा है। अगर मैं झूठा हूँ, तो सारा ज़माना झूठा है।"

ललित उठ कर एक ओर तेज़ी से चल दिया। कैसा विकट लांछन था यह ! उसका प्रतिवाद ? कर तो दिया उसने प्रतिवाद एक ढंग से। किन्तु वह ढंग शायद ठीक न था ? दूसरा ढंग ? प्रतिवाद तो वास्तव में एक ही तरीक़े से हो सकता है, और वह यह कि सारा कच्चा-चिट्ठा साफ़ साफ़ बयान कर दिया जाय। क्या यह उचित होगा ? नहीं, नहीं, यह इससे नहीं हो सकेगा, हरगिज़ नहीं। किन्तु यह लांछन ? यह असत्य सिद्ध हो कर रहेगा। जीवन के इस कूल पर जहाँ असत्य को सत्य सिद्ध करने ही में मानव अपना गौरव देख रहा है, क्या सत्य की विजय हो सकेगी ? और वे लहरें जो रह रह कर उसे घेर घेर कर भयानक भँवरों की ओर खींच ले जाना चाहती हैं ? काटते रहना होगा इन्हें।

रात के दस बज चुके थे। ललित बिस्तर पर लेटा हुआ था, और सुशीला उसके पैर दाब रही थी। सुशीला ने कहा—"बड़ी बदनामी हो रही है हम लोगों की।"

"यह तो होने ही को था।"

"उस दिन राम बाबू के यहाँ से हमारे यहाँ दावत क्यों नहीं आई, जानते हो ?"

"नहीं।"

"आज प्रेमा के घर गई थी। उसने कहा,—'उस दिन राम बाबू के घर नहीं आई ?' मैंने उत्तर दिया, 'ऐसी बेशर्म तो नहीं हूँ, बहिन, कि बिना बुलाए किसी दावत में चली जाऊँ।' तब प्रेमा ने कहा, 'तुम्हारी चर्चा जब वहाँ छिड़ी, तो राम बाबू की स्त्री बोलीं, एक गर्भवती विधवा को जो कोई अपने घर में जगह दे, उसके यहाँ पानी भी न पीना चाहिये। मैं तो उन लोगों से कोई मतलब नहीं रखना चाहती।' मैंने कहा, 'अगर कोई मेरे यहाँ पानी न पीना चाहे, तो उसे ज़बरदस्ती पानी पिलाने की कोशिश करके मैं बेवकूफ़ नहीं बनूँगी। लेकिन अगर कोई दुःखी आदमी मेरे दरवाज़े पर आए और मुझ से सहायता माँगे, तो उसे दुत्कार देने का साहस मुझ में नहीं है, बहिन' !"

"बहुत ठीक कहा तुमने।"

"लेकिन अब तो मैं सोचती हूँ कि चम्पा को अपने घर में रख कर शायद हम लोगों ने अच्छा नहीं किया।"

"लोक-निन्दा से डर गई ?"

"नहीं, यह बात नहीं। मुझे इस बात का ज़रा भी अफ़सोस नहीं है कि हमारी बदनामी हो रही है। फिर भी न जाने क्यों मेरे मन में रह-रह कर यह बात उठ रही है कि चम्पा को यहाँ रखना ठीक नहीं है।"

ललित निस्तब्ध रहा।

"उसे दूर रख कर भी तो हम उसकी सहायता कर सकते हैं ?"

"कर सकते हैं। लेकिन यहाँ पनाह दे देने के बाद अब उसे दूर करने से उसका अपमान होगा और हमारी हँसी उड़ेगी।"

"यह तो ठीक है।"

× × ×

सुशीला के मायके से उसका छोटा भाई उसे बुलाने आया। वह जाने के लिये तैयार हो गई।

"नहीं, इस समय तुम्हारा जाना उचित नहीं," ललित ने विरोध किया।

"क्यों ?"

इसका उत्तर वह क्या दे ?

"हार नहीं मानूँ हुई हैं। कई सालों से उन से भेंट नहीं हुई। मुझ से मिलने के लिए वह उत्सुक हैं। मेरी भी बड़ी इच्छा है। चली जाने दो मुझे। एक हफ्ते से ज्यादा मैं वहाँ नहीं ठहरूँगी। तुम्हें यहाँ कोई तकलीफ भी न होगी। आज्ञा तो दे दो।"

"अच्छा, जाओ," थोड़ी देर तक सोच कर कपिल ने कहा।

विरोध अब वह कैसे करता? मन की जिस दुर्बलता की अनुभूति से वह स्वयं सदा डरता था, उसका परिणाम वह सुशीला को कैसे बता? 'आज्ञा तो दे दो!' कैसी भोली है सुशीला! आज्ञा की उपस्थिति उसके निकट सुविधाजनक है, किन्तु वह यह नहीं समझती कि वही बात खतरनाक भी साबित हो सकती है। मन की इस आज़ादी से वह भागना नहीं चाहता, भाग भी नहीं सकता। इसीलिए तो उसका हृदय रह-रह कर पत्तों की तरह काँपने लगता है। वो नहीं समझती सपना! हो क्यों नहीं सकती? वह पत्थर बन जायगा, वहाँ बन जायगा।

उसी दिन सुशीला मायके चली गई। और रह गया कपिल उस परिस्थिति का सामना करने के लिए, जिसकी कल्पना करती हो आ रही थी।

मन के लिए मैदान अब साफ था। उसके शिकार तक पूरी आज़ादी के साथ पहुँचने से रोकने वाली अब कोई भी लकीर न थी। और शिकार? वह तो खुद छिपता हुआ, झिझकता हुआ, काँपता हुआ किन्तु जादू के फन्दे में फँसा हुआ, उसके निकट आ रहा है। न आयेगा, तो जायगा कहाँ? कब तक ठहर सकेगा वह उसके सामने? आनन्द पाने का, मौज उड़ाने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है। सुशीला उसे रोकने वाली कौन है? क्या रोक सकेगी वह बेचारी उसे? विश्वासघात? मिथ्या है यह धारणा। सुशीला का नाम है वफ़ादारी! विश्वासघात की मारी हुई तो वह भी है। विश्वासघात का डंका हर जगह तो बज रहा है। फिर बहती गंगा में वह भी क्यों न हाथ धो ले?

पत्थर बन जाने की इच्छा करना आसान है, किन्तु पत्थर बन जाना कठिन। कठिन ही नहीं, कपिल के लिए तो यह असम्भव सिद्ध हो रहा

था। कितनी निरीहता, कितनी दयनीयता अनुभव कर रहा था! अन्तर्द्वंद्व में जो द्वंद्व छिड़ा हुआ था, उसमें खर्च होती रहने के कारण शेष उसके पास उतनी शक्ति नहीं बची थी, जितनी आवश्यक थी। इस समय उसके आत्मरक्षा-अस्त्र भी कुन्द होने नज़र आते थे। सुशीला की उपस्थिति एक ढाल थी, किन्तु वह भी इस समय निकट न थी। क्या होगा तब? उसके अन्दर दहाड़ता हुआ उसका पशु माँद से बाहर निकलेगा, और उसके सुन्दर, छोटे से संसार में विनाश के भयावह दृश्य उपस्थित करेगा; और उसका मनुष्यत्व सिर धुनेगा, पछतायेगा, कोसेगा अपने को, इसको, उसको। उसके अस्तित्व के विकास-क्रम का शायद यह अध्याय भी एक आवश्यक अंग है? नहीं है यह बात, तो क्यों होने जा रहा है यह सब? पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का दण्ड? किन्तु यह भी तो आ जाता है विकास-क्रम में? कैसा विचित्र है यह क्रम! कैसे ऊँचे, नीचे, सुन्दर, असुन्दर, स्वच्छ, मलिन स्थानों में होता हुआ यह चलता जाता है! इस रथ में घोड़े की तरह जुता हुआ वह चल रहा है। सारथी वह नहीं बन सकता क्या? बन सकता, तो इतना असहाय क्यों पाता अपने को?

बीत गये दो दिन। आ गया तीसरा दिन। और प्रतीत हुआ ललित को कि केवल दुष्कल्पना ही निर्मूल आशंकाओं को जन्म दे कर उसे सता रही है। उन आशंकाओं की पूर्ति के लिए कुछ कम न थे दो दिन? मनुष्य स्वयं अपने दुःख और सुख का सृजन करता है। कितना सत्य है यह कथन! कितना दुखी रहा वह इन दिनों, और अपने ही कारण, अपनी ही प्रेरणा से! और अब? कोई कारण नहीं किसी चिन्ता का। जाती रही उसकी सतर्कता।

ढल गया दिन। बीत गई संध्या। आ गई रात। जब भोजन करने बैठा ललित, तो अनेक स्वादिष्ट पदार्थ उसके सामने आए। और बड़े स्नेह से आग्रह कर-कर के चम्पा खिलाने लगी उसे। किस प्रसंग की भूमिका है यह? जाग्रत हो गई फिर दुष्कल्पना? साधारण शिष्टाचार ही की तो यह बात है? किसी हेय कामना का हाथ खोजना इस में कदापि उचित नहीं। यह अनुचित ही नहीं, अपनी ही कुटिल मनोवृत्ति प्रकट होती है इससे। यही मनोवृत्ति तो सता रही है उसे इतने दिनों से। बायें हाथ का खेल है इसके लिए नरक के वीभत्स दृश्यों की रचना कर देना। अब बचते रहना होगा उसे इसके षड्यंत्र से, इसके जाल से।

भोजन कर चुका ललित। पान दिया उसे चम्पा ने। पान खाया उसने। भर गया उसका मुख केवड़े और इलायची की सुगंध से। फिर छा गया उसे नशा, और मस्ती खेलने लगी उसके मन में। झूमता हुआ चला गया वह घूमने के लिए।

दो घंटे के बाद वह वापस आया। जोर से खटखटाई उसने। तुरन्त आ कर दरवाज़ा खोला चम्पा ने। अन्दर गया वह, और चम्पा को देख कर दंग रह गया। सिर से पैर तक सजी हुई थी वह, और हिना की मादक सुगंध की लहरें चक्कर काट रही थीं उसके चारों ओर। वह मस्तानी लहरें घरने लगीं उसे भी। चकित दृष्टि से देखा उसने चम्पा के उत्फुल्ल चेहरे की ओर। पान की लाली से रँगे हुए चम्पा के ओठों पर व्यक्त हुई एक मादक मुस्कान, और झपक पड़ीं मोतियों की दो लड़ियाँ। लड़खड़ा गया ललित।

धीरे धीरे वह चल कर पहुँचा वह अपने शयनागार में। वहाँ सफ़ाई से बिछा हुआ था उसका बिस्तर। दूध के समान चमकती हुई चादर में एक भी न था शिकन। बड़े कायदे से रखे हुए थे तकिए। और यह गुलाब की क्या है जो झाँक रहा है तकियों के नीचे से? झुक कर, झुक कर, तकिए हटा कर देखा उसने। गुलाब के ताज़े फूल थे। क्या होगा अब? आ गई क्या वह कठिन घड़ी, आशंका थी जिसके आने की? दुर्भाग्य! नहीं, नहीं। किन्तु क्या है इन बातों का मतलब? मतलब! गृहस्वामी की समुचित सेवा। समुचित या अत्यधिक? निर्मूल आशंका। और यह उसका असाधारण शृंगार? कोई अधिकार नहीं उसे शृंगार करने का—अपने को खुश करने के लिए भी नहीं? कटु मात्सर्य, अनुचित, अवाञ्छनीय नियम समाज के!

कपड़े और जूते उतारे उसने। और लेट गया वह पलंग पर। व्यक्ति व्यक्ति है, समाज समाज। कठोरता से शासन करने का आदी है समाज। किन्तु विद्रोह कर उठना भी स्वाभाविक है व्यक्ति के लिए। विद्रोह का झंडा उठाया है चम्पा ने, और ऐसा करना स्वाभाविक भी है उसके लिए। क्या मिला उसे समाज से एक भूल के कारण? सहानुभूति के बजाय ताड़ना और लाञ्छन। उसी की तो यह प्रतिक्रिया है। उसकी भूल को पसन्द नहीं किया उसने हज़म करना। तब क्यों हज़म करे वह उसके दण्ड को? कैसा विचित्र व्यापार है यह, कैसा करुण और हृदय द्रावक!

सुशीला की परेशानी बढ़ गई। मनोवैज्ञानिक नहीं था अजित का उत्तर। किन्तु कारण यह भावना नहीं स्वयं की, तो क्या पश्चात् यह उसी? स्वयं ही खोजना होगा कारण। उसका न रहना ही सकता है कारण? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। पहले भी जाते रहते हैं यहाँ-वहाँ। लेकिन कभी नहीं हुई पहले उनकी ऐसी हालत। फिर क्या है माजरा?

जाने लगा अजित।

"कहाँ जा रहे हो?"

"ज़रा एक काम है।"

"ससुराल की बातें न सुनोगे?"

"सुनूँगा क्यों नहीं?"

"फिर चले क्यों जा रहे हो?"

"काम जो है।"

"क्या इतना ज़रूरी काम है कि रुक नहीं सकता? पहले तो मेरे तुम लौट आने पर हर काम रुक जाया करता था?"

अजित निरुत्तर हो कर बैठ गया। सुशीला का सन्देह निराधार न था। काम ज़रूरी न था, आसानी से टल सकता था, और जानने-समझने की इच्छा भी दबी हुई थी उसके मन। किन्तु अब यह जाए कैसे? अब रुकने जाने में उसका बड़ा प्रयोजन बिगड़ सकता है, जो वास्तविक कारण था जाने की इच्छा का। बुरी थी यह इच्छा? बुरी थी एक तरह, अच्छी थी दूसरी तरह। कहने लगी सुशीला मायके का हाल। सुनने लगा अजित अन्यमनस्कता से। छिपी नहीं रही यह बात भी सुशीला की नज़र से। जटिल हो गया भेद और भी।

चम्पा में भी दिखाई दिया उसे किंचित् परिवर्तन। उसके व्यवहार में किंचित् गर्व तथा अधिकार का आभास मिला उसे, और संकुचित थी वह असाधारण रूप से। क्यों है ऐसा? स्वाभाविक है ऐसा होना? किन्तु पहले तो ऐसा न था? समय ज्यों-ज्यों बीतता है, त्यों-त्यों कम होता है दुःख का भार, और लौटने लगती है शान्ति, जिसके पीछे लगी रहती है प्रसन्नता। किन्तु गर्व तथा अधिकार की छाया? उसकी अनुपस्थिति में गृह-स्वामिनी के पद पर आरूढ़ हो जाने के कारण भी तो आ सकती है चम्पा में ये बातें? फिर भी न जाने क्यों आपत्ति है उसके मन को यह सफ़ाई स्वीकार करने में।

बीत चुकी थी आधी रात। लेटी हुई थी सुशीला अपनी चारपाई पर अपने शयनागार में। बगल की चारपाई पर लेटा हुआ था उसका पति। वह सो रहा था। लेकिन जाग रही थी वह। जो अशान्ति आज यहाँ लौटने पर आ गई थी उसके मन में वह प्रबल थी अब भी। भेद नहीं सुजा था अभी तक। और वह छटपटा रही थी उससे परिचित होने के लिए। सुरक्षित है उस का पति, उसका घर, उसकी सम्पत्ति, किन्तु कुछ खो गया है उसका। क्या है वह चीज़? कुछ भी हो, वह जानती है कि कोई मामूली चीज़ नहीं है वह। मामूली चीज़ होती, तो उसका अभाव सारे घर में व्याप्त हो कर उसकी छाती पर बोझ की तरह न लद जाता। और जान पड़ने लगा उसे जैसे वह विकट, विकराल अभाव खा लेगा उसे। क्या है, वह क्या है?

लैम्प के मन्द प्रकाश में देखा उसने—कोई आया दबे-पाँव कमरे में। कौन वह? एक स्त्री। ऐं! यह तो चम्पा है! क्यों आई है यह यहाँ इस समय? किसी चीज़ की ज़रूरत होगी? ज़रूरत किसी चीज़ की थी, तो बाहर से क्यों नहीं आवाज़ दी इसने? पूछना चाहिए? नहीं देखना चाहिये। अधमुँदी कर लीं उसने अपनी आँखें। देखा ध्यान से चम्पा ने उसकी ओर। इतमीनान हुआ। बढ़ी वह धीरे-धीरे ललित की चारपाई की ओर। रुकी, झुकी, फिर ललित का एक पैर पकड़ कर हिलाया उसने धीरे से। अँगड़ाई लेकर करवट बदली ललित ने। नहीं जागेंगे यह? एक बार और प्रयत्न करना चाहिए? फिर उसने हिलाया उसे धीरे से। आँखें खोलीं ललित ने, देखा उसकी ओर, लेकिन फिर बंद कर लीं आँखें। तब निराश होकर दबे-पाँव चली गई चम्पा।

खुल गया भेद। वज्रपात हुआ सुशीला के ऊपर। काँपने लगा उसका शरीर क्रोध के आवेग से। कुलटा, कलमुँही, पतिता! और कितना पाक-साफ़ बतलाती है वह अपने को! क्यों न होती उसकी दुर्गति? कैसी भयानक भूल की उसने उसे अपने घर में जगह दे कर! निकाल बाहर करे क्यों न वह उसे इसी समय? किन्तु उचित होगा इस तरह इस समय शोर-शराबा करना? वह गए नहीं इस समय उसके पास; किन्तु यह स्पष्ट है कि वह भी निर्दोष नहीं। अगर वह निर्दोष होते, तो कैसे साहस होता चम्पा को ऐसी हरकत करने का? इतने उच्च विचारों वाला व्यक्ति भी इस हद तक गिर सकता है! कैसे आश्चर्य और दुःख की बात है! क्यों देखना पड़ा उसे यह दिन? क्या बिगाड़ा

था उसने किसी का। बहने लगीं उसकी आँखों से आँसू की धारें। कैसी अकथनीय वेदना थी इन आँसुओं में!

रात भर सो नहीं सकी सुशीला। सोती कैसे? जब तूफान घिर आता है हृदय के आकाश में और करने लगता है भयंकर ताण्डवनृत्य, तब किसे आ सकती है नींद? उस समय तो मनुष्य की समस्त चेष्टाएँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं अपनी रक्षा करने में।

सबेरे ही उसने कहा ललित से—"चम्पा को अपने साथ ले जा कर रेलगाड़ी पर सवार कर आओ। वह जहाँ चाहे चली जाय।"

"क्यों?"

"इसलिए कि उसका इस घर में रहना अब मैं बरदाश्त नहीं कर सकती।"

"अपने वचन से हटना तो ठीक नहीं!"

मैंने यह वचन नहीं दिया था कि जीवन भर आश्रय दिये रहूँगी उसे। और फिर घर में जब आग लगी हो, तो उसे बुझाने की कोशिश न करना क्या मूर्खता नहीं?"

"आग?"

"गलत कहा है मैंने?"

तो यह सुशीला और चम्पा के बीच के किसी साधारण मतभेद की बात नहीं। नहीं, उसका इशारा है शायद उस भयानक भेद की ओर, जिसे छिपाये रखने के लिये वह प्रयत्नशील है।

"उस बात के बारे में तुम मुझसे ज्यादा जानते हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि मैं साफ़-साफ़ कहूँ। इतनी अप्रिय है बात कि उसे ज़बान पर लाना मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं।"

फ़क़ हो गया ललित का चेहरा। निष्फल हो गया उसका प्रयत्न? ज्ञात हो गया उसे यह विकट भेद? बड़ा अनर्थ हुआ। किन्तु कब तक छिपी रह सकती थी ऐसी बात? सुशीला की ओर देखने का वह साहस नहीं कर सका। निस्तब्ध बैठा हुआ वह कुछ समय तक फ़र्श की ओर ताकता रहा, फिर उठ कर कमरे के बाहर चला गया।

वह पहुँचा चम्पा के कमरे में। मुस्कराई चम्पा उसकी ओर देख कर। किन्तु वह गम्भीर बना रहा। आश्चर्य हुआ चम्पा को।

"तैयारी करो चलना।"

"किस बात की तैयारी ?"
"यहाँ से जाने की।"
"क्यों ?"
हमारे सम्बन्ध की बात सुशीला को मालूम हो गई, और अब तुम्हारा यहाँ रहना वह गवारा नहीं कर सकती।"
"यह तो बड़ा बुरा हुआ।"
"बेशक।"
"मैं कहाँ जाऊँ ?"
"रेल पर मैं तुम्हें सवार करा दूँगा। तुम जहाँ चाहो चली जाओ।"

"लेकिन मैं तो यहाँ से जाना नहीं चाहती ?"
"नहीं, यहाँ तुम्हारा रह सकना अब नामुमकिन है।"
"अगर आप चाहें तो कोई मुझे यहाँ से हटा नहीं सकता।"
"लेकिन ऐसी बात मैं चाह कैसे सकता हूँ ?"
"ऐसा चाहना आप का फ़र्ज़ है।"
"चम्पा ! सुशीला के साथ मैं एक बहुत बड़ा अन्याय कर चुका हूँ, जिसका प्रायश्चित्त शायद इस जन्म में न कर सकूँगा। अब मैं उसके साथ कोई दूसरा अन्याय नहीं कर सकता।"

"तब तो मेरे लिए कोई आशा नहीं।"
निकलने लगे चम्पा की आँखों से आँसू। यह देख कर बढ़ा ललित दरवाज़े की ओर। दरवाज़े के समीप रुक कर उसने कहा—"तैयारी करो। थोड़ी देर में ताँगा आ जायगा।"

ललित चला गया। आँखें पोंछ कर मुस्कराने लगी चम्पा। फिर वह सामान बाँधने लगी।

एक घण्टे के बाद एक ताँगे पर सवार होकर चम्पा और ललित रवाना हुए स्टेशन की ओर। सुशीला ने भेंट नहीं की उस से। उसे भी साहस नहीं हुआ उसके सामने आने का।

आ गया स्टेशन। वे उतरे ताँगे से। सामान उतारा एक कुली ने। ताँगे वाले को पैसे दे कर पूछा ललित ने—"कहाँ जाओगी, चम्पा ?"
"मैं कहीं जाना नहीं चाहती।"
"यह क्या कह रही हो तुम ?"

"बिलकुल ठीक कह रही हूँ। आपको छोड़ कर मैं कहीं नहीं जा सकती। हाँ, अगर आप भी मेरे साथ चलना स्वीकार करें, तो दूसरी बात है।"

"यह असम्भव है।"

"सम्भव असम्भव मैं कुछ नहीं जानती। आप से दूर मैं नहीं रह सकती। लेकिन अगर आप मुझे दूर करने ही पर तुले हैं, तो मुझे मार डालिए!"

"मार डालूँ तुम्हें?"

"हाँ, मरने को तैयार हूँ।"

"खूब कहा तुमने!"

कुछ देर तक वह चुप खड़ा सोचता रहा। फिर उसने एक दूसरा ताँगा बुलाया। कुली ने सामान ताँगे पर रख दिया। उसे पैसे देकर वे ताँगे पर सवार हो गए।

"कहाँ चलूँ, बाबूजी?" ताँगे वाले ने पूछा।

"सिनहा होटल।"

"बहुत अच्छा।"

सिनहा होटल पहुँच कर चम्पा को कमरे में ठहरा कर ललित ने कहा—"दो चार दिन यहीं रहो। तब तक तुम्हारे रहने के लिए कोई मकान ठीक कर लूँगा। यहाँ तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। रोज़ सुबह-शाम मैं आ जाया करूँगा।"

"ठीक है। कितने नेक हैं आप! आपको पाकर जितना सुख मिल रहा है मुझे, उतना कभी नहीं मिला था।"

चम्पा से विदा होकर घर पहुँचा ललित। अवसन्नता अंकित थी सुशीला के चेहरे पर। ललित बैठ गया दालान में पड़े हुए तख्त पर।

"सवार करा आए उसे?"

"हाँ।"

"कहाँ गई वह?"

"अपने मायके।"

"कुछ कहती थी?"

"नहीं, कुछ नहीं।"

वह भी बैठ गई तख्त पर। एक दीर्घ निःश्वास खींच कर उसने —"मेरे हृदय में बड़ा गहरा घाव लगा है!"

"जानता हूँ, सुसी !"

"यह अच्छा नहीं हो सकेगा कभी।"

"नहीं, अच्छा हो जायगा धीरे-धीरे।"

"तुम्हें मैं बड़ा बलवान समझती थी। लेकिन मुझे अब मालूम हुआ कि एक बलवान आदमी भी कभी-कभी कमजोरी दिखा सकते हैं।"

"मैं मानता हूँ कि मुझ से भूल हुई।"

"साधारण नहीं, भयंकर भूल हुई।"

"इस से इनकार करने का मुझे कोई हक नहीं, यह मैं जानता हूँ। लेकिन तुम्हें यह भी सोचना चाहिए कि इस मामले में थोड़ी बहुत जिम्मेदारी तो तुम्हारी भी है।"

"यह मैं जानती हूँ, और सब से अधिक खेद मुझे इसी बात का है। जब मैंने चम्पा को इस घर में आश्रय देने का प्रस्ताव किया था, तो केवल निःस्वार्थ सेवा-भाव ही मेरे मन में था। और उस समय मैं भूल गई थी कि होम करते समय कभी-कभी हाथ भी जल जाता है!"

एक हूक उठी उसके मन में, और आँसू टपकने लगे उसकी आँखों से। जेब से रूमाल निकाल कर उसके आँसू पोंछे ललित ने। उसकी भी आँखें डबडबा आईं।

जो अगाध ममता सुशीला के हृदय में थी वह ललित को क्षमा किए बिना कैसे रहती? उससे क्या वह कभी विमुख हो सकती थी? असम्भव। वह उसका परित्याग कर देता, तो भी कभी संकट के समय यदि वह उसे आवाज़ देता, तो क्या वह उसके पास दौड़ कर न जाती? जाती—अवश्य जाती! जाये बिना उससे रहा कैसे जाता? वह तो अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर चुकी थी, और उससे कुछ पाने की लालसा से ऊपर उठ चुकी थी। ऐसी दशा में गुँजाइश कहाँ थी घृणा के लिए, तिरस्कार के लिए, उपेक्षा के लिए। धीरे-धीरे भर रहा था उसका घाव। पीड़ा अब उस में बराबर नहीं बनी रहती थी। हाँ, टीस कभी-कभी उठती थी, और उसका भविष्य उस समय अंधकारपूर्ण होकर उसे अत्यन्त भयावह प्रतीत होता था।

के समय भोजन के उपरान्त ललित नित्य घूमने

निकल जाता और बड़ी रात गये घर लौटता। कभी कभी वह सारी रात गायब रहता। सुशीला जब प्रश्न करती, तो वह कोई न कोई बहाना बना देता—इस मित्र के घर दावत थी, उस अफ़सर के यहाँ जलसा था, मुशायरा था, कवि-सम्मेलन था, यह था, वह था। और सुशीला चुप-चाप उसकी सफ़ाई स्वीकार कर लेती।

एक दिन उससे महरी ने कहा—"बहूजी! आप तो कहती थीं कि आपकी बहिन मायके चली गई?"

"हाँ, ठीक तो कहा था मैंने।"

"मगर मैंने तो उन्हें कल देखा था।"

"कहाँ देखा था तुमने?"

"मैं परेड की तरफ़ अपने एक नातेदार के घर जा रही थी। वहीं रास्ते में आपकी बहिन दिखाई पड़ीं। बाबूजी भी उनके साथ थे। वह बच्चे को लिये हुए थे। मुझे देख कर वे लोग जल्दी जल्दी आगे बढ़ गये। मैं अचरज में पड़ गई।"

"तुम्हें विश्वास है महरी, कि तुमने ठीक देखा था?"

"बिलकुल ठीक देखा था मैंने। वे लोग दूर भी नहीं थे, और मेरी आँखें भी अभी ख़राब नहीं हुई हैं।"

सुशीला निस्तब्ध बैठी रही। उस समय वह लगी हुई थी उस वज्राघात के कुप्रभाव को रोकने में, जो अभी उसके ऊपर हुआ था।

"बहूजी!"

उत्तर नहीं दिया सुशीला ने। उसके चेहरे की ओर देखा महरी ने और उसे साहस नहीं हुआ आगे कुछ कहने का। चुपचाप उठ कर वह बरतन मलने के लिए चली गई।

सुशीला उठी। उसके पैर लड़खड़ा गये। सँभल कर वह शयनागार की ओर चली। उस कमरे में पहुँच कर, दरवाज़ा भेड़ कर, वह अपने पलंग पर गिर पड़ी और बिलख-बिलख कर रोने लगी। और वह निकला उसके उन आँसुओं की धारों में उसका बचा खुचा अपमान, उसका मोह, उसका गौरव, उसका मान। फट गया फिर उसके हृदय का घाव और घेरने लगी उसे चारों से गहन उदासीनता।

ललित घर वापस आया एक घंटे के बाद। इधर-उधर [illegible] कर उसने पूछा महरी से—"कहाँ हैं?"

"वहाँ बाबूजी," मसाला पीसना रोक कर, शयनागार की ओर इशारा करके महरी ने उत्तर दिया।

शयनागार में इस समय! और दरवाजा भी बन्द है! क्या मामला है? सहम कर वह बढ़ा धीरे-धीरे शयनागार की ओर। एक क्षण रुक कर, धीरे से दरवाज़ा खोल कर उसने प्रवेश किया उस कमरे में। सुशीला चित लेटी हुई थी अपने बिस्तर पर और ताक रही थी एकटक सामने दीवार की ओर।

"सुसी!"

कोई उत्तर नहीं दिया सुशीला ने। ज्यों की त्यों पड़ी रही वह।

"इस तरह क्यों पड़ी हो, सुसी!"

फिर कोई उत्तर नहीं मिला उसे। तब धीरे-धीरे बढ़ा वह पलंग की ओर।

"सुसी!" पलंग के समीप पहुँच कर उसके मुख पर दृष्टि गड़ा कर उसने कहा।

तब देखा सुशीला ने उसके चेहरे की ओर। ललित दहल गया उसकी आँखों का भाव देख कर।

"क्या बात है, सुसी!"

"कुछ नहीं।"

"नहीं, कोई बात तो ज़रूर है," पलंग पर बैठ कर वह बोला।

"बात यह है कि अब मुझे इस ज़िन्दगी की ज़रा भी परवाह नहीं रही।"

"यह क्या कह रही हो तुम!"

"बिलकुल ठीक कह रही हूँ मैं। तुम्हारी दुर्दशा इन आँखों से देखने के लिए मैं जिन्दा नहीं रहना चाहती।"

सिर झुका कर ललित फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"तुमसे एक भूल हुई। मैंने सोचा भूल हर आदमी से हो जाती है। फिर मैंने समझा, तुम सँभल गये, मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया। लेकिन मुझे आज मालूम हुआ कि मेरा ख्याल ग़लत था। तुम चरित्रवान थे, सच्चे थे, सीधे सादे थे। फिर तुम गिरे, गिरते ही चले गये, और आज तुम्हें झूठ और कपट का सहारा लेना पड़ रहा है।"

"कहाँ गई ?"

"अपने मायके।"

"अच्छा हुआ, चली गई। लेकिन मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके आने या न आने से अब मुझे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।"

ललित के हृदय पर चोट लगी। सहम गया वह।

दूसरा दिन आया। रोग घटा नहीं। ललित को चिन्ता बढ़ गई। उसे सान्त्वना दी डाक्टर ने।

दिन ढल चुका था। शाम आ गई थी। सुशीला कुछ शान्त थी। ललित लगा हुआ था उसकी सेवा-सुश्रुषा में।

"सुनते हो ?"

"हाँ।"

"मैं अब बचूँगी नहीं !"

"मत कहो ऐसी बात।"

"नहीं, सच कहती हूँ।"

"अपने मन से निकाल डालो यह ख़याल।"

"फ़िजूल होगी यह कोशिश। मैं तुम्हें धोखे में नहीं रखना चाहती।"

"सूसी ! सूसी !"

"दिल जब टूट जाता है, तो जुड़ता नहीं। जुड़ भी जाता है, तो बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता।"

"तुम देवी हो सूसी, मैं दुराचारी हूँ ! मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। मुझ से घृणा करो, सूसी, मुझे शाप दो !"

"नहीं, नहीं, तुम मेरे स्वामी हो, आराध्य देव हो ! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, दिल से प्यार करती हूँ ! तुम्हारे अनिष्ट की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती ! इस जन्म का हमारा नाता अब टूटने को है, लेकिन मुझे विश्वास है कि हम फिर मिलेंगे।"

बहने लगीं ललित की आँखों से आँसू की अविरल धारें। उठ कर उसे धीरे से अपनी ओर खींच कर, सुशीला पोंछने लगी अपने आँचल से उसकी आँखें।

सत्य निकली सुशीला की भविष्य-वाणी। वह चल बसी उसी दिन रात के तीसरे पहर। वज्रपात हुआ ललित के ऊपर।

"कौन है वह ?" उसने पूछा चम्पा से अकेले में ।

"एक मेहमान ।"

"कोई रिश्तेदार हैं तुम्हारे ?"

"वह मेरे वही हैं, जो आप हैं !"

"यानी ?"

"प्रेमी !" और वह हँस कर चली गई ।

कैसी भयंकर है यह स्त्री, कैसी निर्लज्जा, दुष्टा, दुराचारिणी ! क्षमा कर सकेगा वह ऐसा भयानक दुराचार ? नहीं, नहीं ! असम्भव ! खा लिया उसने बेचारी सुशीला को । अब खा लेगी वह उसे भी । खा लेने दो इस अस्थि पञ्जर को । और बचा ही क्या है अब वहाँ ? असम्भव प्रतीत होने लगा उसे उस दूषित, विषाक्त वातावरण में साँस लेना । इन्तज़ार नहीं कर सका वह नाश्ते का । भाग निकला वह अपने उस घर से ।

यहाँ बैठा रहा वह अवश्य एक पार्क के निर्जन कोने में । क्षमा कर सकेगा वह ऐसा विकट दुराचार ! असम्भव । कौन है वह उसकी ? प्रेमिका ? प्रेमिका होने के योग्य है वह उसकी ? नहीं, नहीं । रखैल ! निकाल बाहर करे क्यों न वह उसे ? नहीं, यह नहीं हो सकेगा । कहाँ है उसमें साहस अपने व्यक्तित्व की अवहेलना करने का । अगर होता उसमें यह साहस, तो क्या चली जाती सुशीला उसे छोड़ कर ? सुशीला ! देवी सुशीला !

गाढ़ा हो गया निशा का अन्धकार । उठ कर धीरे धीरे चला वह घर की ओर । क्यों जा रहा है वह वहाँ ? दो बातें करने के लिये चम्पा से । क्या होगा इस से लाभ ? शायद कुछ नहीं ।

सामने आ गया घर । ठिठक गया वह एक पतली गली की मोड़ पर । दरवाज़ा खुला था घर का । बाहर निकला एक व्यक्ति । दरवाज़े के समीप खड़ी थी चम्पा सजी धजी । कुछ कहा उस व्यक्ति ने मुस्करा कर । हँस पड़ी चम्पा । चल पड़ा वह । दरवाज़ा बन्द कर लिया चम्पा ने । कौन है यह व्यक्ति ? आ तो रहा है इधर ही ? वही मेहमान ? नहीं, नहीं, कोई और है यह तो । एक नहीं, दो ? दो नहीं, न जाने कितने !

घिर आया भयानक अन्धकार ललित के चारों ओर । चकराने लगा उसका सिर । सूसी ! सूसी ! कहाँ हो सूसी ? झलमला उठी प्रकाश की

'माया सीरीज़' की पुस्तकें—

१—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (प्रथम भाग)
२—तृप्ति (कहानी-संग्रह)
३—बँगला की श्रेष्ठ कहानियाँ
४—प्यार (कहानी-संग्रह)
५—अद्भुत कहानियाँ
६—गुलाम श्यामलाल (कहानी-संग्रह)
७—मनूस (उपन्यास)
८—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (दूसरा भाग)
९—उर्दू की श्रेष्ठ कहानियाँ
१०—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (तृतीय भाग)
११—कान्ता (उपन्यास)
१२—फुलवारी (कहानी-संग्रह)
१३—त्रिकोण (उपन्यास)
१४—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (चौथा भाग)
१५—रहस्यमयी (उपन्यास)
१६—स्मृतियों के चित्र (कहानी-संग्रह)
१७—शान्ति (कहानी-संग्रह)
१८—सेक्स (उपन्यास)
१९—प्रेम-कहानी
२०—फ्रांस की श्रेष्ठ कहानियाँ
२१—टाल्सटाय की श्रेष्ठ कहानियाँ
२२—मोपासाँ की श्रेष्ठ कहानियाँ
२३—उपवन (कहानी-संग्रह)
२४—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (पाँचवाँ भाग)
२५—इन्स्पेक्टर घोस (उपन्यास)
२६—रूस की श्रेष्ठ कहानियाँ
२७—बहूजी (कहानी-संग्रह)
२८—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ (छठा भाग)
२९—फिर मिलेंगे (कहानी-संग्रह)
३०—अमानुषिक हत्यायें
३१—मंजरी (कहानी-संग्रह)
३२—अधूरा स्वप्न (कहानी-संग्रह)
३३—आदि और अन्त (उपन्यास)
३४—सन्नाटा (कहानी-संग्रह)
३५—जीवन-भ्रम (कहानी-संग्रह)
३६—मौलाना की पड़ोसिन (हास्य-रस की कहानियाँ)
३७—कामना (कहानी संग्रह)
३८—जवाहरातों की चोरी (कहानी-संग्रह)
३९—बदला (कहानी-संग्रह)

